

।सा मण्डी

वीर सम्बत् '२४७७ ई० १६५१

—

१००० प्रति

मुद्रक—

प्रोप्राइटर राएडा आर्ट प्रेस कूचा लालूमल

॥ नमोऽर्चुणं समरात्स भगवन्नो महावीरस्त ॥

अथ गच्छाचार प्रकीर्णकम्

(हिन्दी अनुवाद सहितम्)

नमिऊण महावीर, तिअमिदनममिय महामाग ।
गच्छायार किची, उद्धरिओ सुअममुद्दामो ॥ १ ॥

देवताओं क राजा इन्द्र भी जिसे नमस्कार करते हैं, उस महाभागवान् भगवान् महावीर स्वामी को नमस्कार करके, भुतसमुद्र से निकले गच्छ के आचार रूपा बुद्ध भोंवियों का वर्णन करता है ॥

नत्वा महावीरं त्रिशेन्द्रनमसितं महाभागम् ।

गच्छाचार किञ्चिद्, उद्धराम् भुतसमुद्रान् ॥ १ ॥

'नमिऊण अस्वस्मुनत्तुण्णुआथा' ॥ ८२।१४६ ॥ हे० इति सूत्रेण क्वाप्रत्यय लृण् आदेश, 'क ग च ज ष द य य षो प्रायो लुक्' ॥ ८२।१५०। ६० ॥ इति सूत्रेण चकारस्य लुक्; 'एच क्वा-नुम तस्य भविष्यत्सु ॥ ८।३। १५० ॥ हे० ॥ इति सूत्रेण इकारादेश ॥ नमिऊण ॥

'तिअमिदं' त्रिदंन्द्र 'सर्वत्र ल-व-रामवन्दे' ॥ ८२।७६। ६० ॥ इति सूत्रेण त्रिश-दस्य रस्य लुक्, 'अनादी शेषादेशयोर्द्वित्वम्' ॥ ८२।८६। ६० इति सूत्रेण अनाद्यभाषान्न द्वित्वम्; 'क ग च ज ष द य य षो प्रायो लुक्' ॥ ८२।१७७ ॥ हे० ॥ इति

वीरिएणं त जीवस्स, समुच्छलिएणं गोयमा ! ।

जम्मंतरकए पावे, पाणी मुहुत्तेण निदहे ॥ ६ ॥

हे गौतम ! जिस समय इस जीव में वीरता का सञ्चार होता है तो यह जीव जन्मजन्मान्तर के पापों को एक मुहूर्त्त भर में धो डालता है ॥

तम्हा निउणं निहालेउं, गच्छं सम्मग्गपटिठयं ।

वसिञ्ज तत्थ आजम्मं, गोयमा ! संजए मुणी ॥ ७ ॥

इस लिये जो गच्छ सन्मार्ग पर चल रहा है, उस को भली प्रकार देख भाल कर संयत मुनि उस में आजीवन रहे ॥

अब प्रश्न होता है कि कैसे पता चले कि यह गच्छ सन्मार्ग पर चल रहा है अथवा उन्मार्ग पर ? इस बात का पता लगाने के लिये कि अमुक संज्ञा कैसी है तो सर्व प्रथम उस

वीर्येण तु जीवस्य, समुच्छलितेन गौतम ! ।

जन्मान्तरकृतानि पापानि, प्राणी मुहूर्त्तेन निर्वहेत् ॥ ६ ॥

तस्मान्निपुणं निभाल्य, गच्छं सन्मार्गप्रस्थितम् ।

वसेत्तत्र आजन्म, गौतम ! संयतो मुनि ॥ ७ ॥

‘निउणं’ ‘क-ग-च-ज’ इति सूत्रेण पकारस्य लुक् ॥

‘निहालेउं’ ‘क्त्वास्तुमत्तूण-तुआणा,’ ॥८२।१४६॥ इति सूत्रेण क्त्वाप्रत्यस्य नुमादेश, ‘क-ग-च-ज’ इति सूत्रेण तकारस्य लुक्, ‘एच्च क्त्वा-तुम-तन्व-भविष्यत्सु’ ॥८३।१५७॥ इति सूत्रेण एकारादेशः ॥

‘वसिञ्जा’ ‘वर्तमाना-भविष्यन्त्योश्च ज्ञ ज्ञा वा’ ॥८३।१७७॥ इति सूत्रेण विध्यर्थे प्रत्ययस्य ‘ज्ञ’ आदेशः, ॥

संस्था के प्रमुख के आचार विचार प्रकृति स्वभाव अनुगामन शक्ति आदि गुणों पर दृष्टि डालनी पड़नी है क्योंकि जो गुणदोष प्रमुख में होते हैं वे प्रायः उस पर अनुयायियों में आ ही जाते हैं। अतः निष्कर्ष यह निकला कि गच्छ के अन्धे घुरे का शरोमदार प्रायः उस गच्छ के आचार्य पर है इस लिये मन्थकार सब प्रथम गच्छ के आचार्य के सम्बन्ध में ही कहते हैं ॥

मेढी आलंबथ खम, दिट्टी जाण सुउत्तिम ।

घुरी अ होइ गच्छस, तम्हा तं तु परिकखए ॥=॥

जो गच्छ का मेढी प्रमाण अर्थात् गच्छ के सब कार्य जिस के चारों ओर चक्क फाट रहे हैं जो गच्छ का आधार है, जो गच्छ के सब साधु माधियों को संगठित रूप में रख रहा है, जो सब को दृष्टि सट्टा दितादिव दिव्याने वाला और यान मट्टा समार ममुद्र से पार उतारने वाला है, उद्यम गुणों से युक्त है ऐसे गच्छ के आचार्य की सर्वप्रथम परीक्षा करें।

मेढी—उल्लयान का स्तम्भ, जिस के चारों ओर बेल

मेधिरालम्बनं स्तम्भं, दृष्टिर्धानं सुरामम् ।

सूर्येस्माद् भवति गच्छस्य, तस्मात्तं तु (एव) परीक्षेत ॥२॥

मेढी" 'मेधि-शिथिर-शिथिल-प्रयमे यस्य च' ॥२१२१५॥

इति सूत्रेण यस्य च ॥

'सुउत्तिमं' 'इ स्वप्नार्दी' ॥२११५॥ इति सूत्रेण अकारस्य

प्रथम ॥

धृमते है । इसी प्रकार आचार्य गच्छ की मद्य प्रवृत्तियों का केन्द्र होता है । आलस्यन—गिरने दुष्टों को सहाय देने वाला, स्वर्ग—जो गिरे तो नहीं परन्तु गिरने वाले हैं उन को गिरने से पहले ही सम्भालने वाला ॥

भयवं ! केहिं लिंगेहिं सूरिं उम्मगपट्टियं ।

वियाणिज्जा छउमत्थे ? , मुर्णा तं मे निसामय ॥ ६ ॥

शिष्य गुरु से प्रश्न करता है. हे भगवन् ! एक दृष्टान्त मुनि को कैसे पता चले कि इन २ कारणों से यह आचार्य उन्मार्ग पर जा रहे हैं ? गुरु उत्तर देने हैं कि इन कारणों को तुम मेरे से सुनो ॥

मच्छन्दयारिं दुस्सीलं, आरंभेषु पवत्तयं ।

पीठयाइपडिवद्धं अउक्कायविहिंसकम् ॥ १० ॥

मूलोत्तरगुणभ्रष्टं, सामाचारीविराद्वयं ।

अदित्रालोचनं नित्यं, नित्यं विगहपरायणं ॥ ११ ॥

भगवन् ! केहिं लिंगेहिं, सूरिमुन्मार्गप्रस्थितम् ।

विजानीयात् छद्धान्थः ? , मुने ! तन्मे निशामय ॥ ६ ॥

“वियाणिज्जा” ‘वर्तमान-भविष्यन्त्योश्च ज्ञा ज्ञा वा’

॥न.३।१७७॥ इति सूत्रेण विध्यर्थे ज्ञा आदेशः ॥

स्वच्छन्दचारिणं दुःशील-मारम्भेषु प्रवर्तकम् ।

पीठकादिप्रतिबद्धं, अप्कायविहिंसकम् ॥ १० ॥

मूलोत्तरगुणभ्रष्टं, सामाचारीविगधकम् ।

अदत्तालोचनं नित्यं, नित्यं विकथापरायणम् ॥ ११ ॥

“पडिवद्धं” ‘प्रत्यादौ ड.’ ॥न।१।२०६॥ इति सूत्रेण तस्य डः ॥

“मूलोत्तर” ‘लुक्’ ॥न।१।१०॥ इति सूत्रेण तस्य अकारस्य

जो आचार्य स्वर्द्धता का आचरण करता हो अपना प्रति से विरुद्ध कार्य करते हुए आरम्भ में प्रवृत्ति करता हो तथा पीठ पत्रक आदि में आमन्त्र हो, अण्डाय की हिम्मा तर्क कर चाण । वह अपने मूल तथा उत्तर गुणों में दोष लगावे और ममाचारी की विराधना कर डाले फिर भी इन दोषों का आलोचना न करता हो और नित्य विक्रय में ही लगा रहे वह आचार्य अन्मार्गगामी है ॥

छत्तीसगुणममन्नागण, तेणवि अवस्य कायव्या ।

परमस्मिन्ना विमोही, सुट्टुवि व्यवहारकुमलेण ॥१२॥

दसतीस गुणों में युक्त आचार्य को भी दूसरे की मजा से अपने दोषों की आलोचना करके शुद्धि करनी चाहिये और

सुक्त ॥

‘मह’ ‘महत्र स-व-रामवन्दे’ ॥२२॥ इति सूत्रेण ‘म’ इत्यस्य रकारस्य सुक्त ममामे वा’ ॥२०॥ इति सूत्रेण अस्य इत्वम् ‘द्वितीयतुर्ययोपरि पूर्व’ ॥२१॥ इति सूत्रेण चतुर्यस्योपरि तृताय अण्य पञ्चम्यस्य पूर्वस्य मकारस्य वकारः ॥ ‘अन्नाहो गोपादेशयोदित्वम्’ ॥२२॥ इति सूत्रेण इत्य ठ अनाहो गोपादेशयोदित्वम् ॥२३॥ इति सूत्रेण इत्वम्, ‘द्वितीयतुर्ययोपरि पूर्व’ ॥२४॥ इति सूत्रेण पूर्वस्य ठघाण्य टकारः ॥

‘विराहश्च’ म-व-श्च ममाम् ॥२५॥ इति सूत्रेण अस्य इ ।

‘निश्च’ श्योर्धस्ये’ ॥२६॥ इति सूत्रेण त्वस्य च, ‘अनाहो गोपादेशयोदित्वम्’ इति सूत्रेण इत्वम् ॥

पट्त्रिंशद्गुणममन्वागणन, तेनापि अवश्य फलप्या ।

परसाहिदा विराधिय सुट्टुवि व्यवहारकुशलेन ॥ १० ॥

अपनी व्यवहारशुश्रूषा का एक भव्य आदर्श उपस्थित करना चाहिये ॥

‘अथ ग्रन्थकार इस शान को एक दृष्टान्त द्वारा भली प्रकार स्पष्ट करते हैं ॥

जः पुरुषोऽपि विद्वान्, अन्नस्य कहेड अत्तगो वादि ।

विद्वान्ममं सुचा, पच्छा ना कम्ममायड ॥ १३ ॥

जिन प्रकार एक वैद्य चिकित्सा में कुशल होना हुआ भी अपना बीमारी को किसी दूसरे वैद्य के पास कड़ता है और जैसा वह कहे वैसा आचरण करता है वही प्रकार व्यवहारशुश्रूषाल आचार्य जनों की भाँती मैं अपने दोषों की शुद्धि करते हैं और समाचारी का स्वयं दृढ़तापूर्वक पालन करते हुए अन्य माधुर्यों के समस्त आदर्श उपस्थित करते हैं ॥

इस के अतिरिक्त गच्छ के आचार्य को और क्या करना चाहिये इस का वर्णन करते हैं —

यथा शुश्रूषोऽपि वैशो-ऽन्यस्य कथयति आत्मनो व्याधिस ।

वैद्यापदेशं श्रुत्वा, पश्चान्न स कर्म आचरति ॥ १३ ॥

‘विद्वान्’ ‘अ-अ-या-या’ ज. । नाशर. १॥ इति सूत्रेण अन्य ज. अनादोः’ इति सूत्रेण द्वित्वम् । ह्रस्वः सयोगे न. १. न. १॥ इति सूत्रेण ऐकारस्य इकारः ।

‘सुचा’ ‘त्व-ध्व-द्व-ध्वां च-छ-ज मा. कचिन’ ॥ नाशर. १॥

इति सूत्रेण त्वस्य चः. ‘अनादोः’ इति सूत्रेण द्वित्वम् ॥

‘पच्छा’ ह्रस्वान् ध्य-ञ्च-त्स प्सा मनिश्चले’ ॥ नाशर. १॥

इति सूत्रे ॥ अथ च, ‘अनादोः’ इति सूत्रेण द्वित्वम्. ‘द्वितीय-तुयोरुपरि पूर्व.’ इति सूत्रेण अन्य चः ॥

द्वेभ्यः स्त्रियं तु ज्ञाशिक्षा, वत्य पर्वा उवस्मय ।
संगडे माधुवग्ग च, मुनत्य च निहासर्द ॥ १४ ॥

गन्ध का आचार्य आगमा का चिन्तन मनन तथा उम के अनुमार आचरण कला हुआ माधुवर्ग का संग्रह करना है और देशकालानुसार उनके लिये वस्त्र पात्र तथा योग्य उपाश्रय (वसति) आदि का ध्यान रखता है ॥

जो आचार्य अपने शिष्यों की मार समाल नहीं करता अब इस के विषय में करते हैं—

संगडावग्गह विदिशा, न करेइ अ जो गणी ।
मपण ममणि तु दिविक्षना, मामाचारि न गाहए ॥ १५ ॥
बालाण अ उ मीसाण, जीहाए उवल्लिपए ।
न मम्ममगा गाहइ, सो सुरो जाण वेरिआ ॥ १६ ॥

जो आचार्य माधुओं का विधिपूर्वक संग्रह और उनकी रक्षा नहीं करता है। साधु भाषियों को दीक्षा तो दे दता है परन्तु उन को माधुओं के नियमोपनियमों का पालन नहीं करवाना

देशं क्षेत्रं तु ज्ञात्वा चन्द्रं पात्रं=पाश्रयम् ।
संगृहीत माधुवग्ग च, सूत्रार्थं च निमातर्यति ॥ १४ ॥
ममहोपमर्दं विधि-न न करोति च यो गणी ।
धमणं धमणीं तु दर्शित्वा, सामाचारि न गाहयेत् ॥ १५ ॥
बालानां यस्तु शिष्याणां, त्रिहया उपलिप्सेत् ।
न मन्थग्मानं गाहयति स सृतिर्जानीहि वेदी ॥ १६ ॥

और समाचारी नहीं मिलता तथा नवदांचित शिष्यों को लाड प्या में रखता है उन्हें मन्मार्ग पर स्थित नहीं करना है ऐसा आचार्य अपने शिष्यों का गुण नहीं अपितु शत्रु है, उन का अहित करने वाला है ॥

जीह्वा विलिहितो, न भद्रो सारणा जहि नत्थि ।

इंडेण्वि ताडंतो, म भद्रो मारणा जत्थ ॥ १७ ॥

जिह्वा के द्वारा मीठे मीठे वचन बोलना हुआ जो आचार्य अपने गच्छ के आचार की रक्षा नहीं कर सकना वह आचार्य अपने गच्छ का कल्याणकर्ता नहीं माना जाता, इस के विपरीत मीठे मीठे वचन न भी बोलका अपितु दण्ड-यष्टि से भी आचार्य अपने शिष्यों को ताडता है और उस से गच्छ की रक्षा होती है, तो वह आचार्य कल्याणरूप है ॥

गुरु के प्रमाद करने पर शिष्य का भी क्या कर्तव्य है अब इस विषय में कहते हैं—

मीमोऽपि वैरियो सो उ, जो गुरुं न विबोधेण ।

पमायमदिराघत्थं, सामायागीविराहयं ॥ १८ ॥

जिह्वा विलिहन, न भद्रक मारणा (मारणा) यत्र नास्ति ।

दण्डेनापि ताडयन्, म भद्रक मारणा यत्र ॥ १७ ॥

“इंडेण” दणन-दण्ड-दण्ड-दोला-दण्ड-दर-दम्भ-दर्भ-कदन-दोहदं डो वा ड ॥ १८ ॥ इति सूत्रेण दकारस्य वा डकारः, ‘वर्गेन्त्यो वा’ ॥ १९ ॥ इति सूत्रेण टवर्गस्यान्त्यो वा ॥

शिष्योऽपि वैरी स नृ, यो गुरुं न विबोधयति ;

प्रमादमदिराघस्तं, सामाचारीविराधकम् ॥ १८ ॥

यदि गुरु किसी ममय प्रमाद के बर्शाभूत हो जाए और गन्ध के निबन्धोपनियमरूप ममाचार्य का यथाविधि पालन न कर सब बड़ शिष्य जो अपने गुरु को साजधान नहीं करता बड़ भी अपने गुरु का शत्रु माना जाता है ॥

उपरोक्त व्यवस्था में शिष्य अपने गुरु को किस शब्दा में साजधान कर अब इन विषय का बखान करन है—

तुम्हा रसात्रि मुणिरर १, पमायवमगा इवति उइ पुरिमा ।
तणुओ को भम्ह १, आलम्बन हुअ समारे १ ॥ १६ ॥

६ मुनिओ में प्रधान १ गुरुदेव ॥ यदि आप जैसे ममय महागुरु भी प्रमाद के बर्शाभूत हो जाए तो आप को छाड़ कर हमे इम संसार में किस का महारा रहेगा ?

अब पुन गणी के विषय में बखान करत हैं—

नाखंभि दमणुभि अ, चरणभि य तिसुत्रि ममयमारमु ।
चोएइ जा ठवेउ १, गणमभाण च सा अ गणी ॥ २० ॥

नित्तबार्णी का मार ज्ञान, दर्शन और चरित्र दे ता अपनी आत्मा को तथा समस्त गण को इन तानों गुणा में स्थापन करने के लिये प्रेरणा करता रहता है वही वास्तव में गन्ध के स्वामी आचार्य महाराज है ॥

युष्माट्टरा अवि मुनेवर १, प्रनाइइगण भवन्नि यदि पुइवा १

तनाइ-य काजमाइमा-जम्बने भविष्यत्त रुसारे १ ॥ १६ ॥

ज्ञान दर्शने चरणे य, त्रिप्यवि समयमारपु ।

नोदयत्ति य स्थायित्तु, गणमात्मानं च न य गणी ॥ २० ॥

पिंडं उवर्हि च मिज्ज, उगमउप्पायणेसणासुद्धं ।

चारित्र्यकवणाद्वा, माहितो ढाड् स चारित्री ॥ २१ ॥

भोजन वस्त्र मकान तथा अन्य संयम सहायक मामर्था के उद्गमण आदि दोषों का वर्जता हुआ जो अपने चारित्र्य की रक्षा करता है वास्तव में वह चारित्री है ॥

अपरिस्सावि सम्मं, नमपामी चैव ढाड् कज्जेमु ।

मा रक्खइ चक्खुं पिव, मवालवुड्ढाउलं गच्छं ॥ २२ ॥

उपरिक्त गुणयुक्त आचार्य जो गच्छ के नानाविध कार्यों को समभावपूर्वक करता हुआ अपना भावनाओं में नानिक भी मलिनता नहीं आने देता, वह आचार्य गच्छ के छोटें में लेकर बड़े तरु सब मठियों की अपनी चक्षु के सदृश रक्षा करता है ॥

मीआवेड विहारं, सुहसीलगुणेहि जो अवुद्धिओ ।

मो नवरि लिगधारी, मंजमजोएण निस्मारो ॥ २३ ॥

जो अज्ञानी आरामतलवा में पडकर विहार करने में दुःख मानता है वह संयमवार से रहित केवल वेपधारी है ॥

पिण्डमुपधि शय्यां, उद्गमोत्पादनैपणाशुद्धम् ।

चारित्ररक्षणार्थं, शोधयन भवति स चारित्री ॥ २१ ॥

अपरिश्रवां मन्यक्, समदर्शी चैव भवति कार्येषु ।

स रक्षति चक्षुःसि सवालवृद्धाकुलं गच्छम् ॥ २२ ॥

सीदयति विहारं, मुखशालगुणैर्योऽवुद्धकः ।

स नवरि लिङ्गधारी. संयमयोगेन निस्मारः ॥ २३ ॥

दुर्नगामनगररज्ज्व पयद्विभ्र ज्ञो तेषु दुष्टे इ ममर्ष ।

मो नवरि लिङ्गधारी, मज्जमलोण्य निस्मारा ॥२४॥

कुल, ग्राम, नगर अथवा किसी राज्य में लाकर तथा वहाँ रह कर जो उस पर ममत्वभाव रखता है वह मयमसार में रहित केवल वैपथी है ॥

विदिशि जा ट नान्द्र, सुत अत्य च गाहई ।

मो धरणो मो अ पुण्यो य, म वधु मूकवदायगा ॥२५॥

जो आचार्य शिष्यमनुदाय को आत्मोपधान का प्रेरणा करना रहता है -ट मूर्खों का अर्थ और उनका मर्म समझना रहता है, वह आचार्य मुमुक्षुओं को मोक्ष में पहुँचाने वाला उन का परम बन्धु है और वह अनि पुण्यवान आचार्य मन्मारथे शिष्ये धन्य है ॥

म एव भव्यमन्त्राण, चक्षुभूय विद्यादिण ।

दसेड जा त्रिगुदिट्ट, मणुट्ठाण जट्टिठअ ॥ २६ ॥

जो आचार्य भव्यप्राणियों को बीतराग भगवान् का यथाय

कुलधामनगरराज्य महाय यन्त्रेण करोति इ ममत्वम् ।

म नवरि लिङ्गधारी, मयमयोगेन निस्मारा ॥ २७ ॥

विधिना यस्तु नोदयति सूत्रमथ च भादयति ।

म च धन्य म च पुण्यध, म बन्धुमोक्षदायकः ॥ २४ ॥

म एव भव्यमन्त्रानां, चक्षुर्मतो व्याहृत ।

दशैशनि यो त्रिनोदिट्ट—मनुष्ठाण यधरि नम् ॥ २६ ॥

मार्ग दिखाता है वह उन के लिये चञ्चुभूत होता है ऐसा ज्ञानियों का कथन है ॥

नित्थयरसमो सूरि, सम्मं जो जिणमयं पयासेइ ।

आणं अइक्कमंतो सो, कापुरिसो न सप्पुरिसो । २७ ॥

जो आचार्य वीतराग भगवान् के सच्चे मार्ग का संसार में सर्वव्यापी प्रचार करता है वह तीर्थंकर के सदृश माना जाता है और जो आचार्य भगवान् की आज्ञा का न तो स्वयं सम्यक्न्याय पालन करता है और न ही यथार्थरूपेण ब्रह्मणं करता है, वह सत्पुरुषों की कोटि में नहीं गिना जा सकता ॥

भट्टायारो सूरि, भट्टायाराणां ववखओ सूरि

उम्मग्गठिओ सूरि, तिन्निवि मग्गं पणासंति ॥ २८ ॥

तीन प्रकार के आचार्य, भगवान् के मार्ग को दूषित करते हैं

(१) वह आचार्य जो स्वयं आचारभ्रष्ट है ।

(२) वह आचार्य जो स्वयं तो आचारभ्रष्ट नहीं परन्तु अपने गच्छ के आचारभ्रष्टों की उपेक्षा करता है अर्थात् उन का सुधार नहीं करना ।

(३) जो आचार्य भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध प्ररूपण तथा आचरण करता है ।

तीर्थंकरसमः सूरिः, सम्यग् यो जिन्मतं प्रकाशयति ।

आज्ञामतिक्राम्यन् स, कापुरुपो न सत्पुरुषः ॥ २७ ॥

भ्रष्टाचार सूरि—भ्रष्टाचाराणामुपेक्षकः सूरिः ।

उन्मार्गस्थितः सूरि—स्त्रयोऽपि मार्गं प्रणाशयन्ति ॥ २८ ॥

उम्मगगठिए सम्मग्ग नासए जो उ सेवए सरी ।

निभमेयं सो गोयम !, अप्प पाडेइ ससारे ॥ २६ ॥

जो आचार्य उन्मार्गगाभी है और सम्यग् मार्ग का लोप कर रहा है ऐसे आचार्य की सेवा करने वाला शिष्य निश्चय से ससार समुद्र में गीने खाता है ॥

उम्मगगठिओ इक्काडवि, नासए भव्वसच्चसयाए ।

त मग्गमणुसारेते, जह कुतारो नरो होइ ॥ ३० ॥

निस को मर्लीप्रकार तैरना नहीं आता जैसे वह स्वयं डूबता है और माथ में अपने माथियों को भी ले डूबता है इसी प्रकार उलटे मार्ग पर चलता हुआ एक व्यक्ति भी कई एक को ले डूबता है ।

उ मग्गमग्गसपडिआण, माहूए गोयमा । एणु ।

संमारो य अणुतो, डाइ य मम्मग्गनाभीण ॥ ३१ ॥

सत्य मार्ग का लोप करके उलटे मार्ग पर चलने वाले आचार्य निश्चय ही अनन्य ससार के पथ में पड़ जाते हैं ॥

उम्मार्गम्वित्तान मन्मार्गे-नाशकान् यमु सेवत सरीम् ।

नियमेन स गौयम । आत्मानं पातयन्ति ससारे ॥ २६ ॥

उम्मार्गस्थित ऋकोडवि, नाशयन्ति भव्वसत्त्वसङ्घातान् ।

तं मार्गमनुमत्तो यथा कुतारो नरो भवति ॥ ३० ॥

उन्मार्गमार्गसम्भ्रम्यितानां, माधूनां गौयम । नूनम् ।

ससारध्यानन्तो भवति मन्मार्गनाशिनान् ॥ ३१ ॥

तीआणागयकाले, केई होहिति गांअमा ! सरी ।

जेमि नामग्गहणेवि, हुज्ज नियमेण पच्छित्तं ॥ ३७ ॥

हे गौतम ! तीनों कालों में ऐसे भी आचार्य होते रहते हैं जिन के केवल नामाचरणमात्र से प्रायश्चित्त आता है ।

टिप्पण—हर समय अच्छे तथा बुरे दोनों प्रकार के व्यक्ति होते हैं अन्यायकारी आत्मा को सतर्कता से अप्रमत्त होकर विचरण करना चाहिये ।

अश्रो-सयरी भवन्ति अणविक्रवयाइ, जह मिच्चवाइणालोण ।
पट्टिपुच्छसोह्ठिचोअणा, तम्हा उ गुरु सया मयइ ॥ ३८ ॥

जैसे संसार में घोड़ा, बैल तथा नौकर आदि अपने स्वामी की देख भाल न होने पर स्वच्छन्द होकर कार्य बिगाड़ देने है, इसी प्रकार विना पूछे ताछे और देख भाल तथा प्रेरणा के शिष्य भी स्वच्छन्द होकर अपनी तथा दूसरों की हानि कर बैठते हैं इस लिये गुरु शिष्य को सदैव शिक्षा देता रहता है ॥

जो उ प्पमायदोसेणं, आलस्सेणं तहेव य ।

मीसवग्गं न चोएइ, तेण आणा विराहिआ । ३९ ॥

जो आचार्य आलस्य प्रमाद तथा अन्य किसी दोष के कारण

अतीतानागतकाले, केचिद् भविष्यन्ति गौतम ! मूरय ।

येषां नामग्रहणेऽपि भवति नियमेन प्रायश्चित्तम् ॥ ३७ ॥

वनः—स्वैरीणि भवन्ति अनपेक्षया, यथा भृत्यवादनानि लोके ।

प्रतिपुच्छाशोधिचोदनादिभिः (विना शिष्याः), तस्मान् गुरुः सदा भजते यस्तु प्रमाददोषेण, आलस्येन तथैव च ।

शिष्यवर्गं न प्रेरयति, तेनाज्ञा विराहिता ॥ ३९ ॥

सयम मे विपरीत मार्ग पर जाने हुए शिष्यसमुदाय को रोक्ना नहीं है तो वह आचार्य तीर्थङ्कर महाराज की आज्ञा का विरोध है ॥

सखेपेण मण सोम्म !, वरिणम्म गुरुलपत्तण ।

गच्छस्म लक्खण धीर !, सखेपेण निशामय ॥ ४० ॥

गुरु अपने शिष्य में कड़वा है कि अयि ! सौम्य शिष्य ॥ यह मैंने आचार्य का संक्षेप में वर्णन किया है । इ धैरवान ज्ञान-गुणनिधि । अब तुम गच्छ ये क्या लक्षण हैं वह मेरे से संक्षेप में सुनो ॥

यहाँ आचार्यस्वरूपनिरूपण नाम का प्रथम अधिकार समाप्त होता है और माधुसूयस्वरूपनिरूपण नामक दूसरा अधिकार आरम्भ होता है—

गीयत्थे से सुसंविग्गे, अणालमी दद्व्यण् ।

अम्बल्लित्थचरित्ते मयय, रागदोसविवज्जण् ॥ ४१ ॥

गच्छ, वास्तव में वही गच्छ है जिसके साधु गीताय है अर्थात् जिन्हें शास्त्रों का सम्यग् बोध है जो मोक्षार्थी अपना आत्मा को वशरोत्तर शुद्ध बना रहे है । आत्मस्य जिनके समीप तक नहीं पटकना । अपने प्रणों का हृदयपूर्वक जो पालन कर रहे हैं और जो सदैव रागदोष को छोड़ते जा रहे हैं ॥

सखेपेण मया सौम्य !, वर्णितां गुरुलपत्तणम् ॥

गच्छस्य लक्षणं धीर ! सखेपेण निशामय ॥ ४० ॥

गीतार्थो य सुसंविन्न, अणालम्बो ददप्रथ ।

अम्बल्लित्थचरित्त्वं मत्ततं, रागदोषविवर्जितं ॥ ४१ ॥

परमत्थञ्चो न तं अमयं, विसं हालाहलं खु तं ।

न तेण अजरामरो हुञ्जा, तक्खणा निहणं वए ॥ ४७ ॥

सुत्रार्थ से जो अनभिज्ञ है उस के वचनों द्वारा कही हुई अमृत-तुल्य बात भी ग्रहण न करे क्योंकि अगीतार्थ की कही हुई बात अमृतरूप नहीं होती। भले ही वह ऊपर से अमृतसमान प्रतीत होती हो परन्तु वह वास्तव में अमृत नहीं वह हालाहल जीवन-नाशक एक उत्कट विष है। उस के पान करने से जीव मृत्यु को प्राप्त होता है और वह कभी जन्ममरण के चक्र से नहीं निकल सकता ॥

अगीयत्थकुसीलेहिं, र्गं तिविहेण वोसिरे ।

मुक्खमग्गस्सिमे विग्घे, पहंमि तेणगे जहा ॥ ४८ ॥

परमार्थ को न जानने वाले, जिनका कुत्सित आचार है उनके सहवास को तीन करण तीन योग से त्याग दे अर्थात् मन से भी उन के साथ न रहे और वचन आदि के द्वारा उन से प्रीति न बढ़ावे उन, से हर समय बचने का, अपनी आत्म को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करे उन को अपनी मोक्षसाधना में विघ्नरूप समझे; जिस प्रकार एक पथिक को मार्ग के चोर एवं लुटेरों से सावधान होकर चलना पड़ता है इसी प्रकार मोक्षामितापी को इन अगीतार्थ तथा कुत्सित आचरण वालों से सावधान एवं अप्रमत्त होकर विचरण करना चाहिये ।

परमार्थतो न तदमृतं, विषं हालाहलं खलु तत् ।

न तेनाजरामरो भवेत्, तत्तणात् निधनं व्रजेत् ॥ ४७ ॥

अगीतार्थकुशीलैः, सङ्गं त्रिविधेन व्युत्सृजेत् ।

मोक्षमार्गस्येमे विघ्नाः, पथि स्तेनकाः यथा ॥ ४८ ॥

पञ्जलिय हुयबह दट्ठु, निस्सको वत्थ पविस्सिठ ।

अचाण निद्वहिजाहि, नो कुसीलस्स अन्निए ॥४६॥

जलनी हुई अग्नि में निराङ्गरूप से प्रविष्ट होकर अपने को भस्म कर देना अच्छा है परन्तु हुत्तित आचार वाले के साथ रहना अच्छा नहीं ॥

पञ्जलति जत्थ घगघगस्स, गुरुणापि चोइए सीसा ।

रागदोसेण वि अणु-सएण ठ गोयम ! न गच्छ ॥५०॥

गुरु के समझने पर, यदि शिष्यगण की क्रोधाग्नि मड़क ठठ और अपनी भूल स्वीकार न करे कलटा शिखा देने वाले के ही अवगुण निकालना शुरू करदे इस प्रकार समझने पर जो फलान् को बढ़ाता है । और यदि गुरुजन अधिक खोर देकर समझते हैं तो वह दुःख मानता है और पश्चात्ताप करने लगता है कि 'मैंने यां हि दांचा ली' । इस प्रकार के जहाँ शिष्यों के मन में विचार उठते हों हे गीतम ! वह वास्तव में गच्छ नहीं है ।

इस प्रकार कुछ होकर यदि कोई शिष्य गच्छ से बाहर जा रहा हो उसे उपदेश देते हुए प्रत्यकार कहने हैं—

गच्छो महानुभावो वत्थ वसतारुं निज्जरा विउसा ।

सारखवारणचाअणा माईहिं, न दोसपट्ठिक्की ॥ ५१ ॥

मन्वर्कितं हुतवहं दट्ठु, निराङ्गस्तत्र प्रविरप ।

आत्मानं निद्वहेत्, न कुसीलमालीयेत् ॥ ४६ ॥

प्रव्यसन्ति यत्र घगघगधमानं गुरुणापि बोधिता शिष्या ।

रागदोषाभ्यां ध्यनु शयेन स गीतम ! न गच्छ ॥ ५० ॥

गन्दो महानुभाव—सत्र वसनां निर्नरा विपुला ।

स्मारणावाराणाचोदना—दिभिर्न दोषप्रतिपत्ति ॥ ५१ ॥

गच्छ में रहने का बड़ा फल यह है कि गच्छ में अन्य साधुओं के साथ रहने से वह अधिकाधिक निर्जरा कर सकता है और हर समय स्मरण वारणा तथा प्रेरण होते रहने से उस में दोष नहीं आने पाते और गच्छ में बाहिर चले जाने से उस में स्वच्छन्दता आने का भय है और दोषोत्पत्ति की प्रबल सम्भावना है। अतः क्रोधादि के वशीभूत होकर उसे गच्छ से बाहिर नहीं जाना चाहिये ॥

किन २ साधुओं के साथ रहने से एक साधक आत्मा विपुल निर्जरा करता है अथ उन का वर्णन करते हैं—

गुरुणो छंदगुवती, सुविणीए जित्परीसहे धीरे ।

न वि थद्धे न वि लुद्धे, न वि गारविए विगहसीले ॥५२॥

जो विनयपूर्वक गुरुजनों की आज्ञा का पालन करता है और जो परीपह आप उन्हे धैर्य के साथ सहन करता है। अपने को अभिमान में न डुबोते हुए लोभ के जाल में नहीं फंसता है, जो लोलुपता रहित है तथा चार प्रकार की विकृतियों को छोड़ कर तीन गौरवों में प्रथक रहता है ॥

खंते दंते गुत्ते, मुत्ते वैरग्गमग्गमल्लीणे ।

दसविहसामायारी, आवस्सगसंजमुज्जुत्ते ॥ ५३ ॥

क्षमा को धारण करके अपनी इन्द्रियों पर जो नियन्त्रण रखता है तथा सदा अत्मगुप्त रहता है अनेक प्रकार के आने वाले

गुरो. छन्दानुवांतनः, सुविनीता जितपरीपहाः धीराः ।

नापि स्तब्धाः नापि लुब्धा, नापि गौरविता विकथाशीलाः ॥५२॥

दान्ता दान्ताः गुप्ता, मुक्ता वैराग्यमार्गालीनाः ।

दशविधसामाचारी—आवश्यकसंयमोद्यताः ॥ ५३ ॥

प्रनोमनो को छोड़ कर वैराग्यमार्ग पर आरुढ़ है तथा दूर प्रसर
की ममाचारी का पानन कला है और अपनी आत्मा को प्रान-
त्व कार्य आवश्यक क्रिया करन हुए भयमयोग म लगाण रचता है ॥

स्वस्फुरकककृमाण, अणित्ठुट्टाई निद्रुरगिराण ।

निमन्थ्यानिडाटण-माईहि न जे पउम्माति ॥५४॥

जे अ न मकिचिञ्जण, नावमवणए नाक्ज्जारी अ ।

न पवयणुडदाइकरे, कठगायपाणासेसे वि ॥ ५५ ॥

गुरु के फटोर शब्दों में शिक्षा देने पर यहां तक कि फटोर
उपानम्व देने हुए यदि गुरुजन अपने मे अलग भी करते हों फिर
भी, जो शिष्यगण द्वेषयुक्त नहीं होता हो और भावों के क्लृप्त में
प्राप्तने पर भी प्रयोग—मृत्यु समाप्त हो तथा भा अपनी तथा
भगवान के शासन की निद्रा करने वाला कोई अकार्य न करना हो
येमे साधुगण क धीच रहने वाला साधर अधिकाधिक निर्जरा
करता है ।

गुरुणा कज्जमकज्जे, खरककपदुट्टनिद्रुरगिराए ।

महिण तहचि मीसा, मणति त गोयमा । गच्छम् ॥५६॥

स्वस्फुरककृमाण, अणित्ठुट्टाई निद्रुरगिराण ।

निर्ममानिपट्टना—दिभि न ये प्रद्वियन्ति ॥ ५७ ॥

ये थ माहीनिज्जाहा, नायशोउनया नाकार्यकारिणध ।

न प्रवचनोद्दाहकता कण्टमनशाएत्तापेडपि ॥ ५४ ॥

गुरुणा कार्यकार्य, गरकध्यादुष्टनिद्रुरगिरा ।

महित्त नभेति गिध्या मणन्ति म गौतम । गच्छ ॥ ५६ ॥

'तदति' 'वाच्ययोग्यानादावदान' ॥२१६॥ इति सूत्रेण

'तदा' शब्दस्य आकाशम्य अकार, 'इय मरुत् तथ हि' ॥२१४२॥

इति सूत्रेण श्लोकार्थपर्यनुद्, मकारस्य द्विन्वय । महत्ति ॥

करने योग्य अथवा न करने योग्य कार्यों के सम्बन्ध में गुरु-जनों के कठोर शब्दों के कहने पर भी जो शिष्यसमुदाय 'तद्वृत्ति' ऐसा कह कर अपने गुरुजनों का आदर सम्मान करता है, हे गौतम ! वास्तव में ऐसे साधुसमुदाय का नाम ही गच्छ है ॥

दूरुञ्जिभ्यपचाइसु ममचोए निष्पिहे सरीरे वि ।

जायमजायाहारे वयालीसेसणाकुसले ॥ ५७ ॥

वस्त्रपात्रादि की ममता से रहित जो शरीर की आसक्ति से रहित है तथा आहार का अक्सर लगने पर अथवा न लगने पर जो आहार के बयालीस दोषों को टालने में समर्थ है ॥

तंपि न रूवरसत्थं, न य वरणत्थं न चैव दप्पत्थं ।

संजमभरवहणत्थं, अक्खोचंगं व वहणत्थम् ॥ ५८ ॥

ऊपरोक्त शुद्ध एवं निर्दोष आहार भी, रूप तथा रस के लिये नहीं और न हि शरीर की कान्ति बढ़ाने तथा इन्द्रियों को पुष्ट करने के लिये, अपितु गाड़ी की धुरा के उपांग (वांगने) के समान चारित्र के भार को वहन करने के लिये ही ग्रहण करता है ॥

दूरोञ्जितपात्रादिषु ममत्वो निःस्पृहः शरीरेऽपि ।

जाताजाताहारे द्विचत्वारिंशदेषणाकुशलः ॥ ५७ ॥

तमपि न रूपरसार्थं, न च वर्णार्थं न चैव दर्पार्थम् ।

संयमभारवहनार्थं, अक्षोपाङ्गमिव वहनार्थम् ॥ ५८ ॥

वेधयावेपथवे, इरिअट्ठाए य सजमट्ठाए ।

तह पाखयगिआए, छट्ठ पुण धम्मचिंताए ॥५६॥

साधु छह कारणों में आहार प्रश्न करता है १ सुधावेदनीय को शान्त करने के लिये, २. गुरु ग्यान तथा बाल बृद्धावृत्तपत्नी आदि की सेवा के लिये ३ इर्याममिति की शुद्धि के लिये ४ पयम-निर्वाह ५ प्राणधारण ६ स्वाध्याय तथा चिन्मन और मनन के लिये ॥

अथ य जिट्ठकणिट्ठो, जाणिज्जइ जिट्ठययणधहुमाणो ।
दिवसेण वि बो जिट्ठो, न य हीलिज्जइ स गोअमा ! गच्छो

जिस गच्छ में छोट बड़े का लिहाज है । जो एक दिन भी बीसा में बढ़ा है वह ज्येष्ठ है रत्नाकर है । जहाँ रत्नाकर की हीलना नहीं होती अपिनु, उस के बचनों का आदर एवं यदुमान होता है, हे गीतम ! वही बाम्भव में गच्छ है ॥

साधु को साध्वियों से अधिक परिचय न बढ़ाना चाहिये अब इस विषय का वर्णन करते हैं—

वेदनावेपथवे—यार्थं च संयमार्थम् ॥

तथा प्राणवृत्त्यर्थम्, पठं दुनो धर्मचिन्तार्थम् ॥ ५६ ॥

“तह” ‘वाव्ययोत्त्वासादावशात्’ ॥२१।६७॥ इति सूत्रेण
आतो अत् ॥

यत्र च ज्येष्ठकनिष्ठी, ज्ञायेते ज्येष्ठवचनरहुमान ।

दिवसेनापि यो ज्येष्ठ, न च हीर्यते स गीतम ! गच्छ ॥६०

जत्थ य अज्जाकप्पो, पाण्णाए वि रोरदुब्बिक्खे ।

न य परिभुज्जइ सहसा, गोयम ! गच्छं तयं भणियम ६१

भयंकर दुष्काल होने पर यदि प्राणत्याग का कष्ट भी क्यों न आन पड़े फिर भी जिस गच्छ के साधु विना विचारे साध्वियों का लाया हुआ आहार पाणी ग्रहण नहीं करते, हे गौतम ! वास्तव में वही गच्छ है ॥

जत्थ य अज्जाहिं सम, थेरा वि न उलवंति गयदसणा ।

न य भायंति शीणं, अगोवंगाइ तं गच्छम् ॥ ६२ ॥

जिस गच्छ के स्थविर, जिन के दान्त निकल गए हैं, इतने वृद्ध होने पर भी जो साध्वियों में व्यर्थ वार्तालाप नहीं करते और उन के अंगोपांग को सराग दृष्टि से नहीं देखते वही वास्तव में गच्छ है ॥

वज्जेह अपमत्ता !, अज्जासंसग्गि अग्गिविससरिसं ।

अज्जाणुचरो साहु, लहइ अकिंति खु अचिरेण ॥ ६३ ॥

हे अप्रमत्त मुनिवरो ! साध्वियों के संसर्ग को अग्नि तथा विप के सदृश समझो । जो इन का संसर्ग करता है वह शीघ्र ही निन्दा का पात्र बनता है ॥

यत्र चार्याकल्पः, प्राणत्यायेऽपि रौद्रदुर्भिक्षे ।

न च परिभुज्यते सहसा, गौतम ! गच्छः सको भणितः ॥६१ ॥

यत्र चार्याभि समं, स्थविरा अपि नोल्लपन्ति गतदशना ।

न च ध्यायन्ति स्त्रीणा-मङ्गोपाङ्गानि स गच्छः ॥ ६२ ॥

वर्जयत अप्रमत्ता, आर्यासंसर्गं अग्निविपसदृशं ।

आर्यानुचरः साधुः, लभते अकीर्तिं खलु अचिरेण ॥ ६३ ॥

थेरस्म तवस्मिस्म व, बहुस्सुअस्म व पमाणमयस्म ।

अज्ञासंसग्गीए, अणत्तपणय हविज्जाहि ॥ ६४ ॥

किं पुण तरुणो अबहुस्सुओ अ, न य वि ह्नु विगिह्वतवत्थरणो

अज्जासमग्गीए, अणत्तपणय न पाविज्जा ? ॥ ६५ ॥

जो घृष्टावस्था को प्राप्त हो गया है, तथा मदा बुद्ध न कुछ मन भी करना रहना है और बहुभ्रुन है तथा उस के जीवन में प्रमा-
णित्ता है अर्थात् जनता में सर्वमान्य है, यदि वह भी साधियों
का संमर्ग करता है तो वह लोगों में निन्दा का पात्र बनना है, फिर
वह साधु जो अवरुण से युवान है आगमच्छस्य में रहित है और
न ही विकृष्ट (तेजा उपरान्त) तप करना है, भला यदि वह साधियों
का संमर्ग करता है तो क्या उस को निन्दा न होगी ? अर्थात्
अवरुण होगी ।

अच्चि स्वयं धिरचित्तो, तद्धवि संसर्गलक्षपसरण ।

अग्निममीवे व घय, विलिज्ज चित्तं तु अज्जाए ॥ ६६ ॥

यदि कोई साधु स्थिरमन वाला है फिर भी जिस प्रकार
अग्नि के समीप ही होने पर घृत् पिघल जाता है इसी प्रकार
आर्यका के संसर्ग में उस के मन में विकृति आने की प्रवृत्ति
सम्भावना है ॥

स्थविरस्य तपस्विनो वा, बहुभ्रुनस्य वा प्रमाणमूनस्य ।

आर्यासंसर्ग्या, जनवचर्नायता भवेत् ॥ ६४ ॥

किं पुनस्तण्णोऽबहुभ्रुतश्च, न चापि ह्नु विह्वत्तपत्थरण ।

आर्यासंसर्ग्या, जनवचर्नायता न शान्तुयान् ? ॥ ६५ ॥

यच्चपि स्वयं धिरचिन्ता, तथापि संसर्गलक्षप्रमरया ।

अग्निममीवे इव घृतं, विलीयते चित्तं तनु आर्याया ॥ ६६ ॥

सर्व्वत्थ इत्थिवर्गमि, अप्पमत्तो सया अवीसत्थो ।

नित्थरइ वंमचेरं, तच्चिवरीओ न नित्थरइ ॥ ६७ ॥

मव्वत्थेसु विमुत्तो, साहू सव्वत्थ होइ अप्पवसो ।

सो होइ अण्णप्पवसो, अज्जाणं अणुचरंतो उ ॥ ६८ ॥

खेत्तपडिअमप्पाणं, न तरइ जह मच्छिआ विमोएउं ।

अज्जाणुचरो साहू, न तरइ अप्पं विमोएउं ॥ ६९ ॥

स्त्री वर्ग में जो नदा अप्रमत्त होकर रहता है और उन का विश्रान्त नहीं करता, वह ही पूर्ण शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है अन्यथा नहीं । ऐसा साधक सब पदार्थों से अपनी आसक्ति घटा सकता है और वह निज आत्मा को अपने वश में कर लेता है । इसके विपरीत जो साधियों के पाश में बंध जाता है अर्थात् उन के कथनानुसार कार्य करता है तो वह अपनी आत्मार्का स्वतन्त्रता को खोकर परतन्त्र बन जाता है । जिस प्रकार ग्लेप्म में पड़ी मच्छिका अपने आप को नहीं छुड़ा सकती उसी प्रकार साध्वी अर्थात् स्त्री के बन्धन में फंसा हुआ साधु ससार ममुद्र से पार नहीं हो सकता ।

सर्व्वत्र स्त्रीवर्गे, अप्रमत्तः सदा अविश्वस्तः ।

नित्तरति ब्रह्मचर्यं, तद्विपरीतो न नित्तरति ॥६७॥

सर्वार्थेषु विमुक्तः, साधुः सर्वत्र भवति आत्मवशः ।

स भवति अनात्मवश, आर्याणामनुचरन् तु ॥६८॥

ग्लेप्मपतितमात्मानं, न शक्नोति यथा मच्छिका विमोचयितुम् ।

आर्यानुचरः साधुः, न शक्नोति आत्मानं विमोचयितुम् ॥६९॥

“तरइ” ‘शकेश्चय-तर-तीर-पाराः’ ॥ना१॥६॥ इति सूत्रेण

शक्थातोस्तरादेशः ॥

साधुस्त नत्थि लोए, अज्जासरिसी हु बघणे उवमा ।
धम्मणेण मइ ठवतो, न य सरिसो जाण असिलेसो ॥७०॥

साधु के लिये इस संसार में साध्वी के सदरा और कोई बंधन नहीं और धर्म में पतित होती हुई किसी साधक आत्मा को पुनः धर्म में स्थापन करने जैसी निर्वरा नहीं ।

यायामित्तण वि जत्थ, महचरित्तस्स निग्गह विहिखा ।
बहुलद्धिजुअस्मावि, कीरह गुरुणा तय गच्छम् ॥७१॥

जो वचनमात्र से चारित्र्यभ्रष्ट हो गया है भले ही वह बहुलधिगुक्त है, जहा उम का भी विधिपूर्वक निमह क्रिया जाता है अर्थात् उसे प्रायश्चिन दिया जाता है, वह सदाचारी गच्छ है ॥

जत्थ य सनिहिउक्खवड-आहडमाईण नामगइणे वि ।
पूर्इकम्मा मीआ, आउत्ता कप्पतिप्पेसु ॥ ७२ ॥

मउए निहुअसहावे, हासदवविचडिउए विगहमुक्के ।
अममज्जममकरते, गोअरभूमह विहरति ॥ ७३ ॥

साधोर्नास्ति लोके, आर्यासदराी हु बन्धने उपमा ।

धर्मेण सह म्थापयन् न च सदराो जानीयात् अरत्तेरा ॥७०॥

वाहमात्रेणापि यत्र भ्रष्टचारित्रस्य निमहं विधिना ।

बहुलधिगुक्तस्यापि, क्रियते गुरुणा सद्यो गच्छ ॥७१॥

यत्र च सनिधि-उपसृत-आहृतादीनां नामप्रहयोऽपि ।

पूर्विकर्मणो मीना, आयुष्य कल्पत्रेपेषु ॥ ७२ ॥

सृष्टुका निमृत्तस्वभावा, हास्यद्रवविचरिता विप्रहमुक्ता ।

असमञ्जसमकुर्वन्तः, गोचरभूम्यर्थं विहरन्ति ॥ ७३ ॥

मुण्णिणं नाणाभिग्गह, - दुक्कणपच्छित्तमणुचरंताणं ।

जायइ चित्तचमक्कं, देविंदाणं वि तं गच्छम् ॥ ७४ ॥

जिस गच्छ के माधु रात्रि में अशन आदि रखना मंनिधि दोष के तथा आँहे शिक और अभ्याइत आदि दोषों के नाममात्र से धर्मान् स्पर्शमात्र से भय माने हों, आहार निहार की क्रियाओं में उप-योगवान हो, विनयवान, निश्चल न्यभाव वाले, हंसा-मङ्करा के न करने वाले, उतावलेपन से रहित, चारों विकृतियों से दूर रहने वाले, बिना विचार कोई कार्य न करने वाले तथा गोचरी कल्पिये योग्य भूमि में ही परिभ्रमण करने वाले हों। तथा नाना प्रकार के अभिग्रह एवं दुष्कर प्रायश्चित्तके अनुष्ठानों को करन हुए साधुओं को देख कर देवों के स्वर्गा इन्द्र भी जहाँ चकित रह जायें, वास्तव में गच्छ तो वही है।

पुढविदग्गणमारुत्त-वणम्मइतसाण विविहाणं ।

मरणंतेवि न पीडा, कीरइ मणमा तयं गच्छम् ॥ ७५ ॥

पृथ्वी काय अथ् काय, तेउ काय वायु तथा वनस्पात काय एवं वेइन्द्रिय आदि त्रय काय के जीवों को, न्वयं की मृत्यु सामने होने पर भी जहाँ मन के द्वारा भी पीडा न पहुँचाई जाती हो अर्थात् सब जीवों को अपना आत्मा के समान समझा जाता हो, वह वस्तुतः गच्छ है ॥

मुर्तान् नानाभिग्रह—दुष्करप्रायश्चित्तमनुचरत. (इष्टी) ।

जायते चित्तचमत्कारो, देवेन्द्राणामपि न गच्छः ॥ ७४ ॥

पुढिवीदग्गणमारुत्त—वनस्पतिव्रतानां विविधानाम् ।

मरणान्तोऽपि न पीडा, जित्यते मनना मको गच्छः ॥ ७५ ॥

खञ्जरिपत्तमुल्लेख, ओ एमज्जे उवस्सयम् ।

नो दया तम्म जीवेसु मम्म ज्ञाणाहि गोचमा । ॥७६॥

ओ माधु खञ्जर के पत्तों अथवा मुँह की बनी हुई बुहारी से उपाध्य की प्रमाजना करता है तो है गौतम । उम माधु के दिल में दया का अभाव है ॥

अत्य च बाहिरपाणिभ-विन्दुमिच्छपि गिम्हमाईसु ।

तदहम्भोमिच्छपाणा, मरये वि मणी न गियहंति ॥७७॥

भीष्मादिक शत्रु में प्यास के मारे कण्ठ सूखा जा रहा हो, प्राण निकलने चाहते हों मृत्यु मागने लगे कर रही हो ऐसी अवस्था में भी जो माधु रूप, तट्टाग बाबड़ी आदि के मन्त्रित जल की बिन्दुमात्र भी न महसूस करता हो जैसे इन्द्रप्रतिष्ठ माधुओं में कुछ गच्छ ही बाल्य में गच्छ है ॥

इच्छिञ्जड अत्य मया, धीयपाण्णावि फामुवं उदयम ।

आगमविहिष्ठा निउय, गोअम् । गच्छ तय मणियम् ॥७८॥

त्रिम गच्छ के माधु अपवाद मार्ग में भी अन्धी तरह

खञ्जरपत्तेन मुञ्चेत्, य प्रसार्जयति उपाध्यम् ।

न दया तस्य जीवेसु सम्यग् ज्ञानाहि गौतम । ॥ ७६ ॥

यत्र च बाह्यपानीय—बिन्दुमात्रमपि धीष्मादिषु ।

तृष्णासोपितप्राणः, मरयेऽपि मृतयो न गृह्णन्ति ॥ ७७ ॥

इष्यते यत्र सदा, द्वितीयपदेनापि प्रामुखमुदकम् ।

आगमविधिना निउयं गौतम । गच्छ मको मणित् ॥७८॥

ऊड़ापोह के पश्चान् सदा शास्त्रानुसार ही प्रामुख जल प्रदण करने की इच्छा करने हे, हे गौतम ! वह वाग्नयिक गच्छ है ॥

अथ य मूलविषुद्ध्य, अन्नयरे वा विचित्रमायंके ।
उत्पणणे जलगुज्जालणाइ, कीरइ न मुणि ! तयं गच्छम् ॥७६॥

शूल, विशुचिका तथा अन्य कोई सप्तप्राणघातक व्याधि के उत्पन्न हो जाने पर भी जहां अग्निकाय का आरम्भ नहीं किया जाता, हे गौतममुने ! वह वाग्तव में गच्छ है ॥

वीथपणं सारुविगाइ—सद्धादमाइणहिं च ।

कारिंती जयणाए, गोयम ! गच्छं तयं भणियम ॥ ८० ॥

अपवादरूप में जहां कोई आवश्यक प्रसंग आजाए, उस समय भी जिस गच्छ के माधु यत्नापूर्वक अग्नि का आरम्भ साधुवेषधारी सारुपिक से, इस के अभाव में सिद्धपुत्र से इस के अभाव में चारित्रयुक्त पञ्चातकृत से, इस के न मिलने पर व्रतधारी श्रावक से तथा इस के भी न मिलने पर भद्रिकोरिणामी अन्य दर्शनाय गृहस्थ से ही करावे । हे गौतम ! वह सही अर्थों में गच्छ कहलाता है ॥

यत्र च शूने विशुचिकायां, अन्यतरस्मिन् वा विचित्रातद्धे ।

उत्पन्ने ज्वलनोज्ज्वालनादि, क्रियते न मुने ! सको गच्छः ॥७६॥

द्वितीयपदेन सारुपिकादि—श्राद्धादिध्यादिभिश्च ।

कारयन्ति यतनया, गौतम ! गच्छः सको भणितः ॥ ८० ॥

पुष्पाण्य वीयाण्य, तयमाईण्य च विविहद्व्याण्यं ।

संघट्टणपरिभ्रावण्य, अत्थ न कुञ्जा तय गच्छम् ॥८१॥

पुष्प बीज तथा वृक्ष आदि के मूल पत्र अक्षुर फल और झाल आदि का संघटा तथा परिताप जिम गच्छ के मुनि न करने हों वह बान्धविक गच्छ है ॥

हास्य खेहदा कदप्प, नाद्वियवाथ न कीरण्य अत्थ ।

धावण्यडेवण्यल्लण्य, ममकारावण्यउच्चरण्यम् ॥८२॥

जिस गच्छ ये हासी मत्स्योल, बालक्रोदा क्रमक्यादिक बुचेष्टा न की जाती हों तथा नास्तिक्वाद् के वचन न बोलते जाते हों और बिना शयोजन इधर उधर शीमवया गमानागमन करना, बेग मे किमी स्याई आदि को पार करना एवं उद्भल कर किमी चीज को पार करना, वस्य पात्र आदि पर ममत्व भाव रखना तथा पूजनीय गुरुजनों का अवर्णवाद् बोलना ये सब जिम गच्छ मे न हों वही वस्तुन गच्छ है ॥

अत्थित्थीकरफरिस, अन्तरिय कारणे वि उप्पन्ने ।

दिट्ठिविसदित्तमी, विस ष वज्जिज्जण्य गच्छे ॥८३॥

पुष्पाणां बीजानां, त्वगादीनाञ्च विविधद्रव्याणाम् ।

सङ्घट्टनपरिभ्रावणं यत्र न कुर्यान् भक्तो गच्छः ॥ ८१ ॥

हास्य कीटा शब्दयोः, नास्तिक्वादो न प्रियते यत्र ।

धावनं डेवनलङ्घनं, ममकारोऽवर्णोऽपारणम् ॥ ८२ ॥

यत्र स्त्रीकरस्पर्शं अन्तरिते कारणेऽपि उप्पन्ने ।

दिट्ठिविपरितानि—विपरिमिष वज्जयेन् (म) गच्छ

शलाह वृद्धाह, नत्तुअदुदियोऽ अहव गदशीह ।

न च करीड तणुफरिसं, गोयम ! गच्छं तयं भणियं ॥२४॥

जिन गच्छ में, विशेष कारण उत्पन्न होने पर भी स्त्री के हाथ के स्पर्श को दृष्टिविषय सर्प, प्रज्वलिताग्नि एवं हालाहल विष समझा जाता है वह मही गच्छ है तथा बालकुमारी एवं वृद्धा, पुत्री, पीत्री एवं बहिन में भी जहां स्पर्श नहीं किया जाता, वह गच्छ है ॥

जन्थित्यीकरफरिसं, लिंगी अरिहो वी समयवि करिज्जा ।

तं निच्छयथो गोयम ! जाणिज्जा मूलगुणे भट्टम् ॥२५॥

कीरड वीअपणणं, मुत्तमभणियं नन्नत्य विहिरा उ ।

उप्पन्ने पुण कज्जे, दिक्खाआयंकमाईह ॥ २६ ॥

माधुवेय युक्त यदि कोई एक पूज्य आचार्य भी म्वयं स्त्री के हाथ का स्पर्श करे, तो हे गौतम ! निश्चय ही वह मूलगुणों से भ्रष्ट है । और जिन गच्छ में अपवाद रूप में भी स्त्री के हाथ आदि का स्पर्श नहीं किया जाता क्योंकि शान्त्र में अपवाद अवन्या में भी स्त्रीस्पर्श वर्जनीय है कारण कि चतुर्थ महाव्रत का अपवाद

वालाया वृद्धाया, नप्तृकाया दुहितृकाया अथवा भगिन्या ।

न च क्रियते तनुस्पर्श, गौतम ! गच्छः मको भणितः ॥२४॥

यत्र स्त्रीकरस्पर्शं, लिङ्गी अहोऽपि स्वयंमपि (स्वयमेव) कृत्यान् ।

तं निश्चयतो गौतम !, जानीयान् मूलगुणभ्रष्टम् ॥ २५ ॥

क्रियते द्वितीयपदेन, मूत्राभणितं न यत्र विधिना तु ।

उत्पन्ने पुन. कार्ये, दीक्षाऽऽतङ्कादिके ॥ २६ ॥

निनगामन में नहीं है फिर भी दीक्षा पर्याय के नाश होने का अत्रतर अथवा आनन्द आदि इच्छुष्ट कारण का पड़ने पर जैसे कि श्री श्रुतस्वप्नत्र के छद्मे उद्देश्य में वर्णन आया है इस प्रकार के किर्मा बहुत बड़े कारण के उपस्थित होने पर, जो गीतार्थ मुनि आत्म के रहस्य को समझने वाले हैं परमायुर्दरों का वेदा आत्मविधि अनुसार जहाँ ऐसा करते हैं वह गच्छ ही वास्तव में गच्छ है ।

मूनगुणेषु विमुक्तं, बहुगुणकलिय पि लब्धिर्भयम् ।

उत्तमकृते वि जाय, निष्ठादिज्जह तयं गच्छम् ॥८७॥

अनेकगुणों से युक्त तथा लब्धिभयम्प्र आदे किसी उत्तमकृता में अयम् हुआ ही क्यों न हो उम के मूनगुणों से अष्ट हो जाने पर यदि वह गच्छ में बाहर कर दिया जाता है तो वह गच्छ वास्तविक गच्छ है ॥

जत्य हिरण्यमुवपणे, धणधण्ये कयतथफलिहाय ।

मयखाय आमखाय य, मुमिराय चैव परिभोगा ॥८८॥

जत्य य धारदियाण, तथादिभ्याय च नह य परिभोगो ।

यु मुविङ्गवत्यं, का मेरा तन्य गच्छमि १ ॥८९॥

मूनगुणेषु क बहुगुणकलिनमपि लब्धिभयम् ।

उत्तमकृतेऽपि जातं, निष्ठादिज्जति तयो गच्छ ॥ ८७ ॥

यत्र हिरण्यमुवर्णयो, धनधान्ययो कात्मनाऽस्फटिकानाम् ।

शयनानामामनानाञ्च शुभिराखाञ्चैव परिभोग ॥ ८८ ॥

यत्र च रक्तवप्राणा, नीलपीतादिरङ्गिनश्चाम्नाञ्चैव परिभोग ।

मुक्त्वा शुक्लवस्त्रं, का मयांशु सत्र गच्छं ? ॥ ८९ ॥

जिम गच्छ के मुनिगण, मोना चान्दी, धन धान्य तथा कांसी तास्त्रा एवं स्फटिकरत्नमय भाजन और कुर्मी पलंग चाम्पाई तथा छिट्टे वाली चौकी एवं फट्टे का परिभोग करने हों और श्रेयस्य के वस्त्रों का छोड़ कर लाल नीले पीले वस्त्र पहनने हों तो उस गच्छ की क्या मर्यादा रह जानी है ? अर्थात् वह गच्छ मर्यादाहीन है ॥

जत्थ हिरण्यसुवणं, हन्थेण परागयंपि नो छिप्यं ।

कारणसमर्पणं पि हु, निमिमग्गणद्धं पि त्तं गच्छम् ॥६०॥

कोई गृहस्थ किर्मी भय के कारण अथवा स्नेह के वर्जाभूत होकर साधु को अपना मोना चान्दी नमर्पण करे जिम गच्छ के माधु उस मोने चान्दी को, पर का ही समझ कर अर्धनिमेषनात्र अर्थात् क्षणभर के लिये भी उसे हाथ से स्पर्श तक नहीं करते वह वास्तविक गच्छ है ॥

जत्थ य अज्जालद्धं, पडिगहमाईपि विविहमुवगग्गम् ।

परिभुज्जह साहूहि, तं गोयम ! केरिर्म गच्छम् ? ॥६१॥

जहां पात्र आदि उपकरण बिना कारणविशेष, आर्चकाओं से लेकर साधु अपने उपभोग में लाते हैं, हे गौतम ! वह कैसा विचित्र गच्छ है ? अर्थात् वह वास्तविक गच्छ नहीं है ॥

यत्र हिरण्यसुवणं, हन्तेन परकीयमापि न मृगेत् ।

कारणसमर्पितेऽपि हु, निमेषक्षणाद्धं मापि न गच्छः ॥ ६० ॥

यत्र चार्यालक्ष्यं, पतद्महात्रपि विविधमुपकरणम् ।

परिभुज्यन्ते साधुभिः, स गौतम ! कीदृशो गच्छः ? ॥६१॥

अद्भुतमेसज्ज, बलबुद्धिविवद्दृष्यपि पुष्टिकरम् ।
अज्जालद मज्जइ, का मेरा तत्त्व गच्छमि ? । ६२ ॥

शारीरिक बल, तथा बुद्धि बल को बढ़ाने वाली एवं पुष्ट करने वाली अति दुर्लभ औषध, यदि आर्यकाओं से प्राप्त करके सेवन की जाती है तो उन गच्छ की क्या मर्यादा है ? अर्थात् वह गच्छ अपनी मर्यादाओं का पालन कर रहा है । और गच्छ के वास्तविक गुणों में दूर होता जा रहा है ॥

एगो एगिरियए सद्धि, अत्थ चिट्ठिज्ज गोपमा ! ।
संजइए विसेसेखं, निम्मेर त तु मासिमो ॥ ६३ ॥

जहाँ अकेला साधु अकेली स्त्री से और विशेषकर अकेले आर्यका से बातचीत करता है वो हे गौतम । वह गच्छ अपनी मर्यादा से बाहर समझना चाहिये ॥

उपरोक्त गाथा में अकेली आर्यका से सलापमात्र का संवधा निषेध किया है इसी विषय को और अधिक स्पष्ट करने के लिये अन्यकार कहते हैं—

अतिदुर्लभमैपन्यं, बलबुद्धिविवर्धनमापि पुष्टकरम् ।

आर्याश्लथं भुज्यते, का मर्यादा तत्र गच्छे ॥ ६२ ॥

एक एकस्त्रिया साद्धं, यत्र तिष्ठेत् गौतम ! ।

सयत्था विशेषेण, निर्मर्यादं तं तु मापामहे ॥ ६३ ॥

दृढचारित्रं मुक्तं, आद्वैजं मयाद्वैहरं च गुणराशिम् ।

इको अजभावेदं, तमणायारं न त गच्छम् ॥ ६४ ॥

जो चारित्र में दृढ, निर्लोभात्मा, आद्वैय बचन वाला अर्थात् जो जनता में आदर प्राप्त है, ऐसी महामति वाला गुणों की खान जो सर्व साधियों की स्वामिनी है, उस को एकार्की साधु पढ़ाता है तो वह पढ़ाने वाला साधु और पढ़ने वाला आर्की दोनों अनाचार का सेवन करने है ॥

शृणुगज्जियद्वयकुहा-विज्जुदुग्गिज्जगूढद्विययाओ ।

अज्ञा अवारियाओ, इन्धीगज्जं न तं गच्छम् ॥ ६५ ॥

बादल के गर्जन, घोड़े के पैर की वायु एवं बिजली के चमकारे का जैसे पता नहीं चलना इसी प्रकार कूट कपटयुक्त हृदय वाला आर्की जहां स्वच्छन्दाचारिणी हो और अपनी मनमानी करता हो,—उसे उनके मार्ग से कोई रोकने वाला न हो। तो समझना चाहिये कि वहां स्त्रीगन्ध है, वस्तुतः वह गन्ध नहीं है ॥

टिप्पणी—यहां कपट तथा स्वच्छन्दता की अपेक्षा में स्त्रीगन्ध नाम दिया गया है। इसी प्रकार जहां साधु स्वच्छन्दाचारी हों

दृढचारित्रं मुक्तं, आद्वैयं महारां (मतिगूहं) च गुणराशिम् ।

एकार्की अभ्यापयति, भोग्नाचारः न स गच्छः ॥ ६४ ॥

“मद्वहरं” ‘गूहम्य घरोपती’ ॥१२१॥ इति सूत्रेण गूहम्य

घरादेशः, ‘स्व-व-थ-भाम्’ ॥१२२॥ इति सूत्रेण घम्यः इ ॥

घनगर्जितहयकुहक—विज्जुदुग्गिज्जगूढद्वियाः ।

आर्की अवारिताः, स्त्रीगन्धं न स गच्छः ॥ ६५ ॥

अपने दुष्ट स्वभावानुसार आचरण करते हुए किसी के रास्ते पर भी न रुकने हों तो उसे खीगज्य के समान दुष्टराज्य नाम भी दिया जा सकता है ॥

अथ ममूहेमकाले, साहस्य मडलीइ अजाभो ।

गोभम ! ठवती पाए, इरयारज्ज न त गच्छम् ॥ ६६ ॥

मौज्जन के समय साधुका र्की मरहला म यदी कोई साध्वी वहां अपना कदम रखने दे तो हे गोभम ! वह वालविक गच्छ नहीं अर्थात् उसे उसी राज्य अर्थात् दुष्ट राज्य समझना चाहिये ॥

अथ मुणीय कपाया, जगदिज्जता वि परकमाएहि ।

नेच्छंनि ममुहेउ मुनिविट्ठो पगुनो चैव ॥ ६७ ॥

जैसे कोई हाथ पाव में लाचार पङ्क बैठ रहा है ऐसे ही दुमर्ग के बोधदारा अपना चठना हुआ बोध पङ्क के मर्या नहीं उठवाना अर्थात् दुमर्गों के बोध करने पर जो बोध नहीं करता ऐसे मुनियों में कुछ गच्छ ही वास्तव में गच्छ है ॥

धम्मतरायभीठ, भीए संसारगम्मपसहीए ।

न उदीरन्ति कमाए, मुखी मुणीय तय गच्छम् ॥ ६८ ॥

यथ ममुहे शकान, साधुर्ता मरहस्यां आर्या ।

गोभम ! स्थापयन्ति पादो, स्वाराज्यं न म गच्छ ॥ ६६ ॥

यत्र मुनीनां कपाया, उदीर्यमाणा अपि परकपाये ।

नेच्छन्नि ममुत्थानु, मुनिविट्ठ पङ्गुज चैव ॥ ६७ ॥

धम्म-तरायभीठा, भीठा संसार-गम्म-पसहीए ।

नोदीरयन्ति कपाया, मनयो मुनीनां सडो गच्छ ॥ ६८ ॥

सर्वज्ञकथित भगवान् के धर्म में विघ्न न पड़े इस में डरने हुए तथा संसारभ्रमण अर्थात् जन्ममरण के भय के कारण जिम गच्छ के साधु दूमरों के क्रोध को नहीं जगाते, महा सद्बुद्ध्यवतार से पेश आते हैं, ऐसे साधुओं के समुदाय का नाम गच्छ है ।

कारणमकारोणं अह, कद्वि मुणीण उद्वहिं कमाए ।

उदय वि जत्य रुंभहि, खामिजइ जत्य त गच्छम् ॥६६॥

गुरु अथवा ग्ज्ञान आदि की वैयावश्च आदि के मुख्य कारण अथवा किसी अन्य गौण कारण ने यदि कषाय उदय में आते हों तो उन्हें मुनि रोकते हैं अर्थात् उदय में नहीं आने देते यदि इस प्रकार का प्रयत्न करने पर भी कषाय उदय में आ ही जाएं तो तुरन्त उसकी क्षमायाचना करते हैं । हे गौतम ! ऐसे मुनियों के समुदाय का नाम ही गच्छ है ॥

मीलतवदाणभावण, चउविद्वधम्मंतरायभयभीए ।

जत्य यहू गीअत्थं, गोअम ! गच्छं तयं भणिअम् ॥१००॥

दान, शील तप और भावनारूप चार प्रकार के धर्म में किसी प्रकार का अन्तराय-विघ्न बाधा न पड़े, इन बात का सर्वद्व ध्यान में रखने वाले जिम गच्छ में बहुत से गीतार्थ मुनि हों, हे गौतम ! उसी को बान्धव में गच्छ कहना चाहिये ॥

कारणेनाकारणेन अथ, कथमपि मुनीनामुत्थिताः कषायाः ।

उदयेऽपि यत्र रुन्धन्ति, क्षमयन्ति यत्र न गच्छः ॥ ६६ ॥

“कद्वि” मासादेर्वा ॥८॥१२६ इति सूत्रेण अनुन्वारस्य लुक्,
पदादपेर्वा, ॥८॥१४३ इति सूत्रेण अपेरकारस्य लुक् ॥

शीलतपदानभावना - चतुर्विधधर्मान्तरायभयभीताः ।

यत्र बहवो गीतार्थाः, गौतम ! गच्छः सको भणितः ॥१००॥

अथ य गोयमा । पश्यद्, कश्चि सुखाद्य इकमपि बुद्ध्या ।
तं गच्छ त्रिविहेष, सोमिरिभ वदज्ज भक्त्य ॥ १०१ ॥

हे गौतम ! जिस गच्छ के मुनि आहार शरीर अन्न उपधि आदि में आसक्त होकर गृहस्थोचित चर्की बुद्ध्या, प्रमार्बर्ना, उन्मत्त तथा जङ्गलुम्भ आदि में से एक का भी आरम्भ प्रमात्मान करने हैं, सो उन गच्छ में जाया मे जो क्या, मन मे भी रहने का सङ्कल्प न करे, तीन करण तीन योग मे उस गच्छ को छोड़ कर किसी और सद्गुणी गच्छ में चला जावे ॥

सुखारमपवर्त्तं, गच्छ वेमुज्जल न सेविञ्जा ।

अ चरिषगुणोद्दि, तु उज्जलं व तु सेविज्जा ॥ १०२ ॥

जिन गच्छ के साधु आरम्भप्रवृत्ति में लगे हुए हैं और वगुने समान इवेतवन्मपायी केवल उपर से उन्मत्त मन कर रहते हैं किन्तु अपने चारित्र्य के गुणों से जिन की आत्मा उन्मत्त नहीं हो पाई है, अपिन्तु जाती ही है तो उन के साथ नहीं रहना चाहिये । तथा जिन की आत्मा साधना पथ पर आरूढ है और जिन में आत्मिक उज्ज्वलता वेग से नहीं, तो धीरे धीरे ही आरूढ है उन के सहयोग में रहना अचित है ॥

यत्र च गौतम । पञ्चानां, क्यमपि सुतानामेकमपि भवेत् ।

तं गच्छं त्रिविधेव, क्युत्सुभ्य ब्रजेत् अन्यत्र ॥ १०१ ॥

सुनारम्भप्रवृत्तां, गच्छं वेधोउन्मत्तं न सेवेत् ।

वधारिषगुणैः, तून्मत्तस्तं तु सेवेत् ॥ १०२ ॥

जन्थ य मृगिणां, क्रयविक्रयाद् कुर्वन्ति संजमुच्यते ।
तं गच्छं गुणसागर । विसं व दूरं परिहरिञ्जा ॥१०३॥

जिम गच्छ के मुनिगण वत्र, पात्र, पुस्तक आदि के क्रय-
विषय में फंस कर समय से भ्रष्ट हो चुके हैं । हे गुणों के सागर
गौतम ! उस गच्छ को विष समान समझ कर दूर से ही छोड़
देना चाहिये ॥

आरंभेषु प्रसक्ता, सिद्धंतपरमृहा विमयगिद्धा ।

मुत्तं मृगिणो गोयम !, वसिज्ज मज्जे मुविहित्राणम् ॥१०४॥

जो साधु आरम्भ समान्भ के कार्यों में आसक्त हैं और वे
उन का छोड़ने के लिये तय्यार नहीं हैं । निदान्त्र में विपरीत मार्ग
पर जा रहे हों और काम भोगों में गृहित हों, हे गौतम ! ऐसे
दृष्ट स्वभाव वाले साधुओं को छोड़ कर मुविहित आत्मा = अन्मार्थी
साधुओं के समुदाय में रहना चाहिये ॥

तमहा सम्मं निहालेउं, गच्छं मम्मग्गपट्ठयम् ।

वसिज्ज पक्खमामं वा, यावज्जीवं तु गोयमा ॥१०५॥

इस लिये हे गौतम ! जो गच्छ सम्मार्ग पर प्रतिष्ठित हैं, ऐसे

यत्र च मुनयः, क्रयविक्रयादि कुर्वन्ति संयमोद्भ्रष्टाः ।

तं गच्छं गुणसागर ! विपमिव दूरत परिहरेत् ॥ १०३ ॥

आरम्भेषु प्रसक्तान्, सिद्धान्त्रपराङ्मुखान्, विषयगृह्णान् ।

मुक्त्वा भुनीन् गौतम !, वनेन् मध्ये मुविहितानाम् ॥ १०४ ॥

तस्मान् सन्यक् निभाल्य, गच्छं सन्मार्गस्थितम् ।

वसेत् पदां मासं वा, यावज्जीवं तु गौतम ! ॥ १०५ ॥

गन्ध को मली प्रकार देख मात्र कर उसी में एक पत्र के लिये या माल के लिये अथवा सम्पूर्ण जीवन भर रहना चाहिये ॥

गुह्यो वा अथवा सेहो, जत्य रक्ते उवध्मयम् ।

तरुणो वा जत्य ण्गागी, क्व मेरा तत्य मामिमो ॥१०६॥

यहाँ छोटी आयुवाला अथवा नवदीप्तिन अथवा युवावस्था वाला साधु उपास्य का पराधिकारी बना हुआ हो अर्थात् उस उपास्य में निवने साधु रहने हैं जिन में कि शक्ति भी है उन सब पर अपना आदेश बलाना हो और उन के करने की इच्छा भी परवाह न करके मनमाने कार्य करता हो तो उस गन्ध में मर्यादाओं का पालन कहाँ हो सकता है ? अर्थात् वह गच्छ अपनी मर्यादाओं का पालन करने वाला है ॥

यहाँ साधुस्वरूपनिरूपण नाम का दूसरा अधिकार समाप्त होता है और सार्वस्वरूपनिरूपण नामक तीसरा अधिकार आरम्भ होता है—

जत्य य ण्गा गुह्यो, एगो तरुणो उ रक्त्वप् वमदि ।

गोयम् । तत्य विहारे, का सुदी यमचेरस्स ॥१०७॥

इसी प्रकार छोटी उमर वाली अथवा अल्प दीक्षा वाली तथा युवा अवस्था वाली साधु उपास्य में अकेली रहती हो तो वहाँ

गुह्यो वा अथवा सेहो, यत्र रक्ते उपास्यम् ।

तरुणो वा यत्र पराका, क्व मर्यादा तत्र मापामहे ॥१०६॥

यत्र यथा गुह्यम्, एका तरुणो तु रक्षति वसति ।

गोयम् । तत्र विहारे, का सुद्विप्रं वचनस्य ॥ १०७ ॥

अप्लचर्य की निर्मलता कैसे टिक सकती है ? अर्थात् नहीं टिक सकती ।

जत्य य उवस्मयाश्रां, चाहिं गच्छे दुहत्यमिरांपि ।
एगा रत्तिं ममणी, का मेग तत्य गच्छस्स ॥१०८॥

जिस गच्छ के रहने वाली साध्वी रात्रि के समय मात्रा आदि के कारण उपाश्रय के बाहर दो कदम भी अकेली जाती है, तो उस गच्छ में क्या मर्यादा रही ? अर्थात् वह गच्छ मर्यादाविहीन है ॥

जत्य य एगा समणी, एगो समणो य जल्पए सोम्म ! ।
निअवंधुणावि मद्धि, तं गच्छं गच्छगुणहीणं ॥ १०९ ॥

हे सौम्य गौतम ! जिस गच्छ में अकेली साध्वी अपना सगा भाई, जो कि साधु बना हुआ है उस से और इसी प्रकार अकेला साधु अपनी बहिन जो कि साध्वी बनी हुई है उस से वार्तालाप करता है तो वह गच्छ, गच्छ के गुणों से रहित है ॥

यत्र चोपाश्रयात्, बहिर्गच्छेन त्रिहस्तमात्रमपि ।

एकाकिनी रात्रौ श्रमणी, का मर्यादा तत्र गच्छे ॥ १०८ ॥

“रत्तिं” ‘सप्तम्या द्वितीया’ ॥८३॥१३७॥ इति सूत्रेण सप्तम्याः स्थाने द्वितीया ॥

यत्र चैका श्रमणी, एकः श्रमणश्च जल्पते सौम्य ! ।

निजबन्धुनाऽपि सार्द्धं, स गच्छः गच्छगुणहीनः ॥ १०९ ॥

अत्र जयारमवार, ममणी अपइ गिहृत्यपश्चक्खम् ।
पश्चक्ख मंपारे, अउवा पक्खिवइ भव्वाण् ॥२१०॥

जो मण्डिपं पास्पर में गृहस्थों के ममणु जकार मकार आदि
असंख्य बचनों का प्रयोग करती हैं तो वह चतुर्ति संसार समुद्र
में अपनी आत्मा को अवरण गिरा देती हैं ॥

अथ य गिहृत्यभामाहि, मासए अज्जिआ मुरुठ्ठावि ॥
त गच्छ गुणमायर !, समणगुणविवज्जिअ आण ॥२११॥

जिस गच्छ की आर्यकाय अत्यन्त क्रोधावेश में आकर
गृहस्थों के सदृश भाव्य भाषा बोलें, क्लेश कर, हे गुणों के सागर
तीरम ! वह गच्छ साधुता के गुणों से उद्दिष्ट ममन्ता चाहिये ॥

गणितोअम ! जा उच्चिअ, सेअवत्थ विवज्जिउ ।

सेवए चित्तह्याणि, न सा अउवा विआहिया ॥२१२॥

हे तीरम ! साष्ठी योग्य प्रमादोपेत चित्त जो खेत बर्य होते
हैं, उन को छोड़ कर नाना प्रकार के रगदार वस्त्र जो आर्यकार्य
पहनता है, व जिन शासन में आर्यकार्य नहीं कही जा
सकती ॥

यत्र जकारमकार, ममणी अल्पते गृहस्थप्रत्यक्षम् ।

प्रत्यक्ष संसारे, आर्यां प्रक्षिपति आत्मानम् ॥ ११० ॥

यत्र य गृहस्थभाषामि, आपने आर्यका मुग्धाऽपि ।

त गच्छ गुणमागर !, समणगुणविवनित आर्नायात् ॥२११॥

गणितोअम ! या उच्चित्त, सेअवत्थ विवज्जिउ ।

सेवते चित्तरूपाणि, न सा आर्या व्याहृता ॥ ११२ ॥

सीवणं तुन्नणं भरणं. गिहत्थाणं तु जा करे ।

तिलउव्वट्टणं वा वि, अप्पणो अ परस्स य ॥११३॥

जो माध्वी अपने पीछे लगी हुई आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये अथवा गृहस्थों से स्नेह होने के कारण उन के कपड़ों को मीती है फटे हुए कपड़ों को ठीक करना है रजाई आदि में रुई भरती है (अथवा अन्य कोई भरण का काम करती है) अपने शरीर पर अथवा अपने स्नेही गृहस्थों के बालकों के शरीर पर तैलमर्दन करती है तो उसे आर्धका न समझना चाहिये ॥

गच्छह सविलासगह, गयणीयं तूलिअं सविच्चोअं ।

उव्वट्टे इ सरीरं. मिणाणमाईणि जा कुण्ह ॥११४॥

जो साध्वी विलासयुक्त गति से धर धर भ्रमण करता है. रुई आदि से भरी हुई तलैया पर नरम तथा मुलायम सिराहने के साथ शयन करती है. तैल आदि का मर्दन करके जो स्नान आदि से अपने शरीर को मजाबट में लगी हुई है ॥

गेहेसु गिहत्थाणं, गंतुण क्हा क्हेइ काहीआ ।

तरुणाइ आट्टिवडंते अणुजाणे मा इ पडिणोआ ॥११५॥

सीवनं तुन्नणं भरणं, गृहस्थानां तु या करोति ।

तैलोद्धर्तनं वाऽपि, आत्मनः परस्य च ॥ ११३ ॥

गच्छति सविलासगतिः, शयनीयं तूलिकां सविच्चोकाम् ।

उद्धर्तयति शरीरं, स्नानादीनि या करोति ॥ ११४ ॥

गृहेषु गृहस्थानां, गत्वा कथां कथयति काथिका ।

तरुणादीन् अभिपततः, अनुजानीयान् सा इ प्रत्यनीका ॥११५॥

“इ” ‘इ-जे-राः पादपूरणे’ ॥८॥२॥१७॥

तथा गृहों के घरों में जाकर प्रयत्न तथा भय में ही हर समय कथा में—गृहस्थों से वार्त्तात्नाप में लगी रहती है, और युवान पुरुषों के बार बार आने का जो अनुमोदन करती है, तो वह माष्ठा के वेप में त्रिनशामन की शत्रु है ॥

द्विषण इर्मा प्रकार 'नो माधु हर समय गृहों से वार्त्तात्नाप ही करने रहते हैं और स्वाध्याय प्रतिज्ञेयना गुरु भ्रान आदि की सेवा अर्थात् तथा अध्ययन अध्यापन में उपेक्षा भाव रखते हैं और युवितियों से वार्त्ते करने में अधिक रुचि रखते हैं तथा उन के बार बार आने की अनुमोदना करने हैं वे भी साधु वेप में त्रिनशामन के शत्रु हैं ॥

बुडडाण तरुणाण, रथि अउजा कइइ जा घम्म ।

मा गणिणी गुणसागर ।, पडिणीया होइ गच्छस्स ॥११३॥

हे गुणों के सागर गौतम ! यदि मुख्य माष्ठी भी रथि के समय बृद्धों तथा तरुणों के बीच घर्मकटा करती है तो वह माष्ठी गच्छ की वैरण है ॥

अत्य य ममणीयम—सौत्वदाइ गच्छम्मि नेव जायति ॥

त गच्छ गच्छवर, गिहत्यमाम । उ नो अत्य ॥११७॥

पिम गच्छ की माष्ठीयों में परस्पर कत्तह नहीं होता तथा

बृद्धानां वरुणानां, राज्ञी आर्या क्रययति वा घर्मम् ।

सा गणिनी गुणसागर । प्रत्यनीका भवति गच्छस्व ॥११६॥

“रथि” ‘समन्या द्वितीया’ इति सूत्रेण द्वितीया ॥

यत्र च धर्मशीलानाम—समृत्तानि गच्छे नैव जायन्ते ।

य गच्छो गच्छवरः महत्प्रभावास्तु न यत्र ॥ ११७ ॥

श्री सारस्वतीय ज्ञान मन्दिर, बयपुर

५०

गच्छायार पद्मस्य

गृहस्थों के मन्त्र सावध एवं न्युगामदभरं वाक्य नहीं श्रेणी जानें
वेसां माधियर् हां गच्छ कां शाभा का वदतां हैं और वहां श्रेष्ठ
गच्छ है ॥

जो जत्तो वा जात्रो, नाज्ञोयद् द्विवत्पक्वित्त्रं वावि ।

मच्छन्दा ममर्णात्रां, मवहरियाए न टायन्ति ॥ ११८ ॥

म्वच्छन्दाचारिणी आर्यकाणं जो अनिचार जहां और जैसे कगे
हैं, उन देवमिक, रात्रिक, पात्तिक, चातुर्मासिक तथा मन्त्र-
स्मरिक अनिचारों की आलोचना नहीं करती और अपनी मुख्य
माफ्ती की आज्ञा में नहीं रहती हैं ॥

विटलिआगि पउजन्ति, गिलार सुदग्गा नेव तिर्पन्ति ।

अणगाढे आगाढं, करन्ति आगाढे अणगाढं ॥ ११९ ॥

वे म्वच्छन्दाचारिणी आर्यकाणं यन्त्र मन्त्र तथा अष्टांग
निमित्त आदि का प्रयोग करती हैं और गज्ञान तथा नवर्दाजना
आदि की आशुत पानी तथा औषध आदि से सेवा नुशुया

यो यतो वा ज्ञानः, नाज्ञोचरन्ति देवमिकं पात्तिकं वापि ।

म्वच्छन्दाः श्रमस्य, महत्तरिकाया न तिष्ठन्ति ॥ ११८ ॥

"जत्तो" "जो जो नतो वा" ॥ ११८ ॥ इति सूत्रेण तनः
प्रत्ययस्य म्याने 'तो' आदेशः ।

विटलिकानि प्रयुजन्ते, गज्ञानशैल्यान् न तर्पयन्ति ।

अनागाढे आगाढं, कुर्वन्ति आगाढे अनागाढम् ॥ ११९ ॥

"गिज्ञाननेर्हार" "कचिद् द्विर्वायादे" ॥ ११९ ॥ इति
सूत्रेण द्विर्वायस्य रःने पठ्या ।

नहीं कर पाती । जो कार्य प्रथम अवश्य करलौय स्वाभाव्य प्रति
लेखना प्रतिक्रमण आदि हैं उन को करनी नहीं और जो इनने
आवश्यक नहीं उन के करने में अपना समय लगाती रहती
हैं ॥

अत्रयस्याह प्रवृज्जति, पाहुण्माद्य अरच्छला ।

चित्तनशाधि च सेवने, चित्ता रयहरणे तदा ॥१२०॥

वे प्रत्येक मंगलक्रिया अथवा—अविवेकपूर्वक करनी हैं अन्य
प्राप्त आदि में आई हुई सधियों की आशर पानी आदि में
यथायोग्य आशर महकार नहीं करनी, वे माना प्रकार के रंग-
। करने वस्त्र तथा विचित्र रचना बान्ना रजोहरण रखती हैं ॥

गह विन्ममाहृष्टि, आगारविगार सह पगार्मति ।

अह बुद्ध्याणवि मोहो, समुर्दरि किं नु तरुणाण १ ॥१२१॥

उन की गति में तथा पठन बैठने आदि में विलासता की घू
आती है और वे हम प्रकार के हावभाव दिखलाती हैं कि चर्चा
आतु वाले बुद्धपुराण के मन में भी विकार उत्पन्न हो जाय और
सुखानों का तो करना ही क्या ? ॥

अयत्नया प्रवृज्जति, प्राधृष्टिगानां अवरमला ।

चित्तनानि च सेवने चित्ताणि रजोहरणानि तथा ॥१२०॥

गतिविधमादिभिः, आकारविकारं तथा प्रदारायन्ति ।

यथा बुद्ध्यानां मोहः, समुदीर्यते किं नु तरुणानाम् ॥ १२१॥

बहुमो उच्छोलिनी, मुहनयणे हत्थपायकक्खाओ ।
गिणहेइ रागमंडल. भोइति तह य कब्बहे ॥१२२॥

वे बार बार अपने हाथ में आंख पांच तथा कक्षाओं को धोती हैं नाना प्रकार की रागिणियों को सीखती हैं तथा गृहस्थों के वस्त्रों में रमण करती हैं उन्हें ग्याने की वस्तुएं देती हैं और अपना दिल बहलाती हैं। इन दोषों में युक्त आर्या, आर्या नहीं अपितु अनार्या हैं तथा स्वच्छन्दाचारिणी हैं ॥

जत्थ य थेरी तरुणी, थेरी तरुणी अ अन्तरे सुअइ ।

गोश्रम ! तं गच्छवरं, वरणाणचरित्तआहारं ॥१२३॥

जिस गच्छ में शयन करते समय यह क्रम ध्यान में रखा जाता है कि पहले स्थविरा (वृद्धा) साध्वी इस के पश्चान् युवावस्था वाली साध्वी उस के पश्चान् फिर वृद्धा और उस के पश्चात् पुनः तरुण-साध्वी, इस क्रम से अन्तर के साथ जहां तरुण साध्विणं सोती हैं, हे गौतम ! वह गच्छ श्रेष्ठ है और ऐसा गच्छ साधक आत्माओं के ज्ञान एवं चारित्र का आधार होता है ॥

बहुशः प्रक्षालयन्ति, मुहनयनानि हस्तपादकक्षाश्च ।

गृह्णन्ति रागमंडलं, भोजयन्ति तथा च कल्पस्थान् ॥१२२॥

यत्र च स्थविरा तरुणी, स्थविरा तरुणी चान्तरे स्वपिति ।

गौतम ! स गच्छवरः, वरज्ञानचारित्राधारः ॥ १२३ ॥

घोषति कठिन्नाग्रो, पोषति तद् य दिनि पोताणि ।
गिडिकञ्चित्ताग्रो, न हु अज्ञा गोश्रमा ! ताग्रो ॥१२४॥

जो आर्यकाण्ड विना कारण अपने कण्ठ आदि अंगों को घोंती है गृहस्थों के लिये मोतियों की माला परोती है और उन के बालक आदि को वस्त्र देती है इस प्रकार जो गृहस्थ-सम्बन्धी चिन्ताओं तथा उन के कार्यों में अपनी सम्मति मिलाती है, है गौतम । वास्तव में वे आर्यकार नहीं है ॥

खरघोडाइहाणे, वयति ते वावि नत्य वन्वति ।
वेमत्पीमंमगी उवस्मयाग्रो ममीवमि ॥१२५॥

जहाँ घोड़े गव्हे आदि पशु बांधे जाते हैं अथवा जहाँ वे चरते बैठते हैं और आपस में कामकीड़ाए करते हैं, उन स्थानों पर जो आर्यकार्य बार बार जाते हैं अथवा जहाँ आयकाण्ड ठहरा हुआ है उस स्थान पर वे घोड़े गव्हे आते जाते हैं, तो जो आर्यकाण्ड प्रमत्त होती है इस के अतिरिक्त जहाँ वेद्या का सम्पर्क होता हो अथवा जिन अर्यकाण्डों के उपाश्रय के पास बेरया रहती हो तो उन को आयका न समझना चाहिये ॥

घोषन्ति कठिन्ना, पोषयन्ति तथा च ददति वस्त्राणि ।

गृहकार्यचिन्तिका, न हु आर्या गौतम ! ता ॥ १२४ ॥

खरघोडाइहास्थाने अजन्ति त वाऽपि तत्र मनन्ति ।

वेरयास्त्रीसमर्गा, उपाश्रयान् समीपे ॥ १२५ ॥

‘वन्वति’ अत्र-नृत-मदा च ॥ का० १२५ ॥ इति सूत्रेण
अज्ञघातोन्त्यम्य द्विरकञ्कारः ॥

सज्भायमुक्कजोगा, धम्मकहा विगह पेसण गिहीणं ।

गिहिनिस्सिपज्जं वाड्ढित्ति, संयवं तह करतीअं ॥१२६॥

जिन आर्यकायों ने शास्त्र की स्वाध्याय छोड़ रखी है और धर्मकथा में ही लगी रहती है तथा विकथा करती हैं—गृहस्थों से यही बातचीतों में अपना समय व्यतीत करती हैं तथा उन को गृहस्थ सम्बन्धी कार्यों के करने के लिये प्रेरणा रहती है गृहस्थों के घरों में जाकर बैठती हैं और उन से अधिक संस्तव परिचय बढ़ाती हैं, हे गौतम ! वे आर्यकारं केवल अपने पेट को ही भरने वाली हैं वे वास्तव में आर्यकारं नहीं हैं ॥

नोट—ये सब बातें सायुयों पर भी समान-रूप से लागू होती हैं । जो साधु ऐसा करते हैं वे भी केवल पेट हैं और जिन शासन से वे साधु नहीं कहला सकते ॥

ममा सीमपडिच्छीणं, चोअणासु अणालसा ।

गणिणी गुणसंपन्ना, पसत्थपुरिसाणुगा ॥१२७॥

संविग्गा भीयपरिसा य, उग्गदंढा य कारणे ।

सज्भायब्भ्भाणजुत्ता य, संगहे अ विसारया ॥१२८॥

स्वाध्यायमुक्तयोगा., धर्मकथाविकथा प्रपणं गृहिणाम् ।

गृहिनिपर्यां वाहयन्ति, संस्तवं तथा कुड्ढन्त्यः ॥१२६॥

समा शिष्यप्रतीच्छिकानां, नोदनामु अन्तलसा ।

गणिणी गुणसम्पन्ना, प्रशस्तपुरुषानुगता ॥ १२७ ॥

संविग्ना भीतपरिपत् च, उग्रदण्डा च कारणे ।

स्वाध्यायध्यानयुक्ता च, संग्रहे च विशारदा ॥१२८॥

इन दो गाथाओं में मुख्य-माध्वी कैमो होनी चाहिये यहाँ बताया गया है—

जो माध्वी ज्ञान दशान एव चारित्र से सम्पन्न मोक्षामि-
 क्षाप्रिणी है जनता के अधिक सम्पर्क से क्लेशती है अकान्तवाम
 को अधिक महत्त्व देती है किन्तु कारण उपस्थित होने पर यह
 कि जनता का जीवन पनन को आर जा रहा हो और जिन
 शासन की रक्षा का प्रश्न उपस्थित हो तो ऐसे समय में जो स्वरूप
 भी धारण करने वाली हो अर्थात् ऐसे समय में जनता के सम्पर्क
 में आकर परम सहम से कार्य करने वाली हो। तथा
 स्वाध्याय और ध्यान में रक्त रहने वाली हो और नव-
 दीक्षिणाओं तथा अन्य साधियों की भली प्रकार रक्षा करने वाली
 हो। अपनी शिष्याएँ तथा अन्य के पास से अध्ययन एवं
 वैवाचक आदि के लिये आइं हुं हुं हुं शिष्याएँ, इन में जो
 ममभाव बताती हो, उन सब को प्रेरणा करने में शिष्या देने
 में किसी प्रकार का आत्मस्य प्रमाद एवं पक्षपात नहीं करती
 हो। इस प्रकार जो अपने पूर्व प्रशस्त-पुरुषों का अनुसरण
 करती है वह आर्यम महत्तरिका पद के योग्य होती है ॥

टिप्पण—इसी प्रकार ये उपरोक्त गुण जिन साधु में हों,
 वह साधुओं में मुनिय्या बनने के योग्य है।

ब्रह्मचरपट्टिष्ठर, ब्रह्मिञ्जा अज्जा उ माहुणा सदिम् ।
 पलवति मुकुटावी, गोत्रम ! किं तेण गच्छेस्य ? ॥१२६॥

योत्रत्तप्यत्पुस्त, वृद्धा आर्या तु साधुना सार्द्धम् ।
 प्रज्ञपन्ति मुक्याऽपि, गौत्रम ! किं तेन गच्छेन ? ॥१२६॥

जहां आर्यका और मायु परम्पर (अथवा मायु सायु आपम में या आर्यका आर्यका एक दूसरे में) उत्तर मयुत्तर में पढ़ जावे और बड़े आदेश में आकर एक दूसरे को उत्तर देते चले जावे, हे गौतम ! ऐसे गच्छ से क्या लाभ है ? अर्थात् कोई लाभ नहीं है ॥

जत्थय गच्छे गोयम ! उत्पणणे कारणमि अज्जाओ ।
गणिणीपिट्ठिआओ. भासन्ति मउअमहेण ॥१३०॥

प्रथम तो आर्यका को बिना कारण मायु में वार्तालाप करनी ही नहीं चाहिये, यदि कारण पढ़ने पर ऐसा प्रसंग आजाए तो उसे अपने में बड़ी मुख्य मार्गी को आगे करके थोड़े शब्दों में सहज, सरल एवं निर्विकारता पूर्वक न्यविर अथवा गीतार्थ सायु से ही विनय के साथ बोले ऐसा जहां होना हो उस का नाम गच्छ है ॥

माऊए दुहिआए. मुण्हाए अहव मइणिमाईणम् ।

जत्थ न अज्जा अक्खइ, गुत्तिविमेयं तयं गच्छम् ।१३१॥

तथा जो साध्वी, अपने संसारी सम्बन्धियों के नाम, यह मेरी माता है यह मेरी लडकी है, यह मेरी स्तुपा है, यह मेरा

यत्र च गच्छे गौतम !, उत्पन्ने कारणे आर्याः ।

गणिनीपृष्ठस्थिताः, भाषन्ते मृदुक्शब्देन ॥ १३० ॥

मातुः दुहितुः, स्तुपायाः अथवा भगिन्यादीनाम् ।

यत्र न आर्या आख्याति, गुत्तिविभेदं सको गच्छः ॥ १३१ ॥

बहन है अथवा मैं इस की माता हूँ मैं इस की लड़की हूँ, आदि बचन बिना कारण लोगों में प्रकट न करती हो और उन के मर्मों का उद्घाटन न करती हो, ऐसी बचन-रूपिणी आर्यकाओं के समूह का नाम ही गन्ध है ॥

दसशियार कुण्डे, चरित्रनास जणेइ मिच्छतम् ।

दुशद्वि वग्गाणज्जा, विहारभेय करेमाणी ॥१३२॥

जो आर्यका दर्शन में अतिचार दोष लगाने वाली और मिथ्यात्व को बताने वाली है तथा दोनों पक्षों में अर्थात् अपने तथा साधुओं के चरित्र में शैथिल्य लाने वाला है और त्रिनोक्तमार्ग से भटकाने वाली है, वह बालक में आर्यका नहीं है ॥

तम्मूलं संसारं, जणेइ अज्जा वि गोयमा ! नूनम् ।

तम्हा धम्मोपदेसं, मुक्त्वा अन्नं न भासिज्जा ॥१३३॥

हे गौतम ! त्रिनोक्तमार्ग से भटकी हुई आर्यका भी निश्चय रूप से साधु के लिये संसार का कारण बन जाती है इस लिये आर्यकाओं से धर्मोपदेश से अतिरिक्त अन्य बार्तालाप न करनी चाहिये ॥

दर्शनातिचारं करोति, चरित्रनास जनयति मिथ्यात्वम् ।

द्वयोरपि वर्गयोः पर्या, विहारभेदं कुर्वाणा ॥ १३२ ॥

तम्मूलं संसारं, जनयति आर्याऽपि गौतम ! नूनम् ।

तम्हा धर्मोपदेशं, मुक्त्वा अन्यत् न भाषेत् ॥ १३३ ॥

मासे मासे उ जा अज्जा, प्गामिन्येण पारण ।

कलहइ गिहत्थभासाहिं, सच्चं तीए निरत्थयं ॥१३४॥

जो आर्यका एक एक माम की तपस्या कर रहा है और पारणा भी केवल प्रास मात्र में करती है यदि वह आर्यका दूसरों से ऐसे कलह करती है, जैसे गृहस्थ असभ्य शब्दों में क्रिया करने हैं तो उस आर्यका की मत्र तपस्या निष्फल हो जाती है ॥

टिप्पणी—इन उपरोक्त दो गायत्रियों में जो विषय वर्णन किया गया है वह साधुओं के सम्बन्ध में भी समान रूप में लागू होता है जैसे कि जो साधु जिनोक्त मार्ग की आज्ञा का उल्लंघन करके वीतरागमार्ग में भटका हुआ है वह साध्वी के लिये संसार-परिभ्रमण का कारण हो सकता है इस लिये आर्यका साधुओं में धार्मिक वार्तालाप के अतिरिक्त अन्य संभाषण न करें । इसी प्रकार जो साधु तपस्या आदि शुभ कार्य तो करता है परन्तु हीन वचन एवं तुच्छ वचनों को धोलते हुए, क्रेश से बाध नहीं आता, उस के तपस्या आदि शुभ कार्य निष्फल होते हैं ॥

इस गायत्रि के साथ साध्वीस्वरूपनिरूपण नाम का तीसरा अधिकार समाप्त होता है इस अधिकार में जो साध्वियों के सम्बन्ध में कहा गया है वह उपरोक्त विधि से यथास्थान साधुओं के सम्बन्ध में भी

मासे मासे तु या आर्या, एकसिक्थेन पारयेत् ।

कलहयेत् गृहस्थभाषाभिः, सर्व्वं तस्या. निरर्थकम् ॥१३४॥

“मासे मासे” “क्रियामध्येऽत्र काले पञ्चमी च” ॥ २।१।१० ॥

इति सूत्रेण सप्तमी विभक्ति. ॥

